आप्त-परीक्षा ।

अनुवादक व प्रकाशक—

उमरावसिंह जैन ।

श्री विद्यानन्दस्वामिविरचित—

आप्त-परीक्षा

का

भावानुवाद।

रचयिता—उमरावसिंह जैन
स्याद्वादमहाविद्यालय, काशी.

वीर सं० २४४१।

मूल्य ।–) आने

समर्पण ।

स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, न्याय-
वाचस्पति, गुरुवर्य्य श्रीयुक्त पंडित
गोपालदासजी बरैया, संस्थापक
व संचालक, श्रीजैनसिद्धान्त-
विद्यालय, मोरेना (ग्वालियर)
के कर-कमलों में हार्दिक
भक्ति से प्रेरित हो
रचयिता द्वारा यह
अनुवाद सविनय
समर्पित
हुआ ।

भूमिका ।

दुःखमय संसार में शांति की आशा से जगह २ पर भटकता हुआ यह जीव सुख प्राप्ति के अनेक उपाय करता है, कभी पर्वतों की कन्दराओं में निवास करता है, कभी गंगा आदि नदियों में गोते लगाता है, कभी सघन बनों में कंटकाकीर्ण भूमि को शय्या, व वृक्षों की छाल को बसन तथा कंदमूल को अशन बनाता है, अनेक देवी देवताओं के मन्दिरों में जाकर मस्तक रगड़ता है, हिमालय जैसे पहाड़ों के शिखर पर समाधि लगाता है। अनेक महात्मा कहलाने वालों को अपना गुरु बनाता है, परन्तु इस संतप्तहृदय पुरुष को कहीं भी शांति नहीं मिलती। अनेक टिकटमाष्टर इस जीव को मुक्ति पुरी का मुफ़्ती टिकट दे अपनी २ दार्शनिक रेलगाड़ियों में बिठा कर घुमाते हैं और मोक्ष नगर में पहुंचाने का दावा करते हैं। परन्तु यह बेचारा अपने शरीररूपी बिस्तरे को लिये हुए बराबर इधर उधर ही घूमता रहता है, न कहीं इस को मुक्ति का मार्ग मिलता है, और न कहीं शांति का उपाय नज़र आता है। एक मोक्ष नगर के परस्पर विरुद्ध अनेक रास्ते बताने वालों के चक्कर में पड़ कर यह बेचारा घबरा जाता है, और बिचारने लगता है कि मेरे अभीप्सित मोक्ष नगर का सच्चा मार्ग एक ही हो सकता है। इन, अनेक मार्ग बताने वालों में सब के सब कदापि सत्यवक्ता नहीं हो

सकते, इस लिये परीक्षा कर के सत्यमार्ग बताने वाले को जान लेना चाहिए, और उसी के बताये हुए मार्ग पर चल कर मोक्ष धाम में पहुंचना चाहिये। इस ग्रन्थ के कर्त्ता श्री विद्यानन्दस्वामी ने इस ही प्रकार के विचार वाले पुरुषों के लिये आप्त अर्थात् मोक्ष का सच्चा मार्ग बताने वाले पुरुष की इस "आप्त परीक्षा" ग्रन्थ में परीक्षा की है। और वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, व वेदान्त आदि दर्शनों के कर्त्ताओं में सत्यवक्ता का लक्षण सर्वज्ञपना व वीतरागपना न पाकर अन्त में अर्हतदेव को उपर्युक्त लक्षण से सत्यार्थवक्ता सिद्ध किया है।

(श्रीमद्विद्यानन्दस्वामीकासंक्षिप्तपरिचय)

श्री विद्यानन्दस्वामी का विद्याविषयक परिचय देना तो केवल सूर्य को दीपक दिखाना है; क्योंकि उक्त महात्मा के बनाये हुए, अष्टसहस्री, श्लोकवार्त्तिक, विद्यानंदमहोदय, बुद्धेशभवनव्याख्यान, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनिर्णय, आदि ग्रन्थ इनकी कीर्त्ति को दिग्दिगन्तव्यापिनी करने के लिये काफ़ी हैं, इसलिये इस विषय में कुछ भी न लिखकर, हम पाठकों को श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा सम्पादित जैन-हितैषी के आधार पर इतनाही बतलाना उचित समझते हैं कि उक्त महात्मा मगधदेश के राजा

अवनिपाल की सभा के प्रसिद्ध विद्वान थे, आपका नाम पूर्व में पात्रकेसरी था, जाति के आप ब्राह्मण थे, और वैदिक धर्मपर आपकी श्रद्धा थी, उक्त राजा की अहिच्छत्र नामकी राजधानी में आप रहा करते थे। एक दिन आपको, राज सभा के ५०० ब्राह्मण विद्वानों को साथ लेकर श्री पार्श्वनाथ भगवान के मन्दिर को देखने का कुतूहल उत्पन्न हुआ, मन्दिर में जाकर आपने चरित्रभूषण नामक मुनि को भगवान के सम्मुख देवागम स्तोत्र का पाठ करते देखा। यह स्तोत्र आपको बहुत पसंद आया, और आपने उक्त स्तोत्र को पुनः पढ़ने के लिये मुनिराज से इच्छा प्रकट की। एक बार सुनने से ही यह स्तोत्र आपको कंठ होगया, और इस का अर्थांश विचारते ही आपकी वैदिक धर्म से श्रद्धा उठ गई, व जैनधर्म ने आपके हृदय पर अपना अटल साम्राज्य जमा लिया। उसी समय से आपका चित्त जैनमत में कहे हुए जीव, अजीव, आदिक तत्त्वों के विचार में निमग्न रहने लगा, और इस विषय के ग्रन्थ बनाने की आपकी उत्कट इच्छा होने लगी, जगत के जीवों को वास्तविक शांति पहुंचाने में इस धर्म का प्राप्त करना, आपके पास अनुपम अमृत होगया। इसके द्वारा आपने बड़े २ राजाओं की सभाओं में शास्त्रार्थ करके बहुत से विद्वानों के हृदय से युक्तिशून्य विचार निकाल डाले, और जैन दर्शन के अनेक

अपूर्व ग्रन्थ लिखकर भारतीय दर्शन शास्त्र को चमत्कृत कर दिया।

संस्कृत कालेज कलकत्ते के प्रिंसपल महामहोपाध्याय-पं० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम० ए० ने अपने "इंडियन मेडिवल लाजिक" नामक ग्रन्थ में विद्यानन्द स्वामी का समय ईस्वीसन् ८०० के लगभग निश्चित किया है।

निवेदन।

इस अनुवाद में शब्दार्थ पर विशेष लक्ष्य न देकर ग्रन्थकार के भाव को सरल भाषा में समझाने का भरसक प्रयत्न किया गया है। और छपते समय यह अनुवाद, "श्रीयुक्त पंडित अम्बादासजी शास्त्री, प्रिंसपल संस्कृत विभाग हिन्दूकालिज व मुख्याध्यापक स्याद्वादमहाविद्यालय बनारस" तथा जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी अधिष्ठाता श्री स्याद्वादमहा विद्यालय बनारस, व सम्पादक जैन मित्र को, दिखला लिया गया है। मैं नहीं कह सकता कि इस प्रथम प्रयास में मुझे कहां तक सफलता प्राप्त हुई है। यदि पाठकों ने इसे अपनाया तो आशा है कि अपने बढ़ते हुए उत्साह को न रोक कर, शीघ्र ही इस विषय के अन्य ग्रन्थों को भी पाठकों की भेट करने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

श्रीजिनाय नमः ।

श्रीविद्यानन्दिस्वामि-विरचित

मूल आप्त-परीक्षा

का भावानुवाद

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थबोधदीधितिमालिने ।
नमः श्रीजिनचन्द्राय, मोहध्वान्तप्रभेदिने ॥ १ ॥

मैं विद्यानन्दि नामक आचार्य, उस चन्द्रमा के समान जिनेन्द्र देव को नमस्कार करता हूं, जिसने मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है, और अपने ज्ञानरूपी सूर्य से समस्त पदार्थों को जान लिया है।

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः, प्रसादात् परमेष्ठिनः ।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं, शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः ॥ २ ॥

प्रसन्न मनपूर्वक इष्टदेव की उपासना करने से मोक्ष का उपाय मालूम होता है इस कारण बड़े २ आचार्य भी शास्त्र के प्रारम्भ में परमेष्ठी के गुणों का स्तवन किया करते हैं। अतः हम भी इस आप्त-परीक्षा ग्रन्थ के प्रारम्भ में इष्टदेव को नमस्कार करते हैं।

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥ ३ ॥

कर्मरूपी पर्वत को चूर्ण कर और समस्त पदार्थों को ज्ञान कर जो मोक्ष का रास्ता बतलाने वाले देव हैं, मैं उन को ही यहां पर इसलिये नमस्कार करता हूं, जिस से मुझ को भी ये गुण प्राप्त हो जावें ।

इत्यसाधारणं प्रोक्तं, विशेषणमशेषतः ।
परसंकल्पिताप्तानां, व्यवच्छेदप्रसिद्धये ॥ ४ ॥

और "मोक्षमार्ग नेतृत्व, कर्म भूभृद्भेतृत्व, विश्वतत्त्व ज्ञातृत्व," ये तीन विशेषण इष्टदेव के इसलिये दिये जाते हैं, जिस से नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य व बौद्ध आदि के माने हुए ईश्वर कपिल व सुगतादिक देवों का ग्रहण न होवे।

अन्ययोगव्यवच्छेदान्निश्चिते हि महात्मनि ।
तस्योपदेशसामर्थ्यादनुष्ठानं प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

क्योंकि इनका निराकरण करने से ही जिनेन्द्र देव का निश्चय होता है और जिनेन्द्र देव का निश्चय होने से, उन के उपदेश द्वारा संसारी जीव अपना कल्याण कर सकते हैं।

तत्रासिद्धं मुनीन्द्रस्य, भेत्तृत्वं कर्मभूभृताम् ।
ये वदन्ति विपर्यासात्तान्प्रत्येवं प्रचक्ष्महे ॥ ६ ॥

(वैशेषिक) जिनेन्द्र देव की जो "कर्मरूपी पर्वत को भेदने वाले" इस विशेषण द्वारा स्तुति की गई है, यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी सर्वज्ञ या ईश्वर के साथ कर्मों का सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होता, और सदा मुक्त होने से जब कर्म का सम्बन्ध ही असिद्ध है तब नाश किस का होगा। (जैन), खैर।

प्रसिद्धः सर्वशास्त्रज्ञस्तेषां तावत्प्रमाणतः।
सदाविध्वस्तनिःशेषबाधकात् स्वसुखादिवत् ॥७॥

सर्वज्ञ मानने में तो आप को भी कोई विवाद (उज्र) नहीं है, क्योंकि आप वैशेषिक महाशय किसी भी बाधक कारण के न रहने से ईश्वर में सुखादिक की तरह सर्वज्ञता तो स्वयं ही मानते हैं।

ज्ञाता यो विश्वतत्वानां, स भेत्ता कर्मभूभृतां।
भवत्येवाऽन्यथा तस्य विश्वतत्वज्ञता कुतः ॥ ८ ॥

और जब ईश्वर को सर्वज्ञ मान लिया, तब कर्म रूपी पर्वत का भेदने वाला भी अवश्य ही मानना पड़ेगा, नहीं तो कर्म-नाशक विना माने मामूली पुरुषों की तरह सर्वज्ञता भी ईश्वर में सिद्ध नहीं हो सकेगी।

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य, सर्वथानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

प्रणीतिर्मोक्षमार्गस्य, न विनाऽनादिसिद्धतः ।
सर्वज्ञादिति तत्सिद्धि,र्न परीक्षासहा, स हि ॥१०॥

(वैशेषिक) ईश्वर यद्यपि सर्वज्ञ है, तो भी कर्मरूपी पर्वत का नाश करने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि वह हमेशा कर्म से रहित है, और विना प्रयत्न के ही स्वयं सिद्ध होने से हमेशा कर्म-रहित मानने में भी कोई हानि नहीं है। ईश्वर अनादि-कालीन है, इसलिये विना प्रयत्न सिद्ध मानना ही पड़ेगा और उस के द्वारा सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति विना उस को अनादि माने बन ही नहीं सकती, इसलिये अनादि उसको मानना ही चाहिये, और जब सम्पूर्ण जगत कार्यस्वरूप है, अनादिकाल से बनता बिछुड़ता रहता है, तब इस सम्पूर्ण चराचर ब्रह्माण्ड का कर्त्ता एक सर्वशक्तिशाली बुद्धिमान ईश्वर है, इस बात को कौन नहीं मानेगा। (जैन) यह आपका कहना भी ठीक नहीं मालूम देता। क्योंकि जिन २ का आपस में अन्वय व्यतिरेक होता है उन २ का ही कार्य कारण भाव माना जाता है। जब ईश्वर व्यापक है और नित्य है तब ईश्वर के साथ में कार्यों का न अन्वय ही बन सकता है और न व्यतिरेक ही। अर्थात् समर्थ कारण के रहते कार्य के नियम से होने को अन्वय कहते हैं और ईश्वर नामक

समर्थ कारण के रहते हुए भी समस्त कार्य एक साथ होते नहीं हैं, इसलिये तो अन्वय नहीं बना। अथवा "जब २ जो २ कार्य होते हैं, वे सब ईश्वर के रहने पर ही होते हैं" यदि इस प्रकार का अन्वय माना भी जाय तो ऐसा अन्वय और जीवों के साथ भी बन जाता है क्योंकि वैशेषिक के मत से और जीव भी व्यापक व सर्वथा नित्य हैं। जब जो २ कार्य होते हैं, अन्य जीव भी मौजूद रहते ही हैं, फिर ईश्वर में क्या विशेषता है जो उस के साथ ही अन्वय माना जाय और जीवों के साथ न माना जाय। व्यतिरेक भी तब बन सकता है जब कि ईश्वर के अभाव में कार्यों का अभाव सिद्ध हो, क्योंकि कारण के अभाव में कार्यों के अभाव होने को ही व्यतिरेक कहते हैं, और ईश्वर का अभाव कभी होता नहीं, इसलिये व्यतिरेक भी नहीं बना। और अन्वय व्यतिरेक के न बनने से ईश्वर कारण नहीं हो सका। कारण के न बनने से ईश्वर अनादि नहीं सिद्ध हुआ। अनादि सिद्ध न होने से, बिना प्रयत्न के ही मुक्त होना नहीं बना। बिना प्रयत्न के ही मुक्त न बनने से, हमेशा कर्म रहितपना ईश्वर में सिद्ध नहीं हो सका। और जब हमेशा कर्मरहितपना भी ईश्वर में खंडित होगया, तब इस हमेशा कर्म-रहितपने को ही हेतु मान कर जिनेन्द्र या ईश्वर में कर्मरूपी पर्वत के

भेदने का अभाव वैशेषिक कैसे कर सकते हैं । अथवा थोड़ी देर के लिये ईश्वर को कर्त्ता मान भी लिया जाय, तो भी यह प्रश्न उपस्थित हुए बिना नहीं रह सकता कि-

प्रणेता-मोक्षमार्गस्य, नाशरीरोऽन्यमुक्तवत् ।
सशरीरस्तु नाऽकर्मा, संभवत्यज्ञजंतुवत् ॥ ११ ॥

वह मोक्ष-मार्ग का उपदेशक ईश्वर शरीर-रहित है या शरीर सहित। यदि शरीर-रहित है, तो भी अन्यमुक्तात्माओं की तरह मोक्षमार्ग का उपदेशक नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे ईश्वर शरीररहित है, वैसे ही अन्यमुक्तजीव भी शरीर रहित हैं, "फिर ईश्वर ही मोक्ष का उपाय बतला सकता है, अन्यमुक्त जीव नहीं बतला सकते-" इस बात के मानने के लिये सिवाय आपके और कोई तैयार नहीं हो सकता । और यदि ईश्वर शरीर-सहित है, तो साधारण शरीर-धारी अज्ञानी जीवों की तरह कर्म-रहित नहीं होसकता । (वैशेषिक) मोक्ष का उपाय बतलाने के लिये ईश्वर को न शरीर सहित होने की ज़रूरत है, और न शरीर रहित होने की आवश्यकता है, किन्तु प्रत्येक कार्य करने के लिये ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न की ज़रूरत है, ये तीनों शक्तियां उसमें हैं ही, इसालिये ईश्वर को मोक्षमार्गका उपदेशक मानने में कोई बाधा नहीं आ सकती । (जैन)

न चेच्छाशक्तिरीशस्य,कर्माभावेऽपि युज्यते ।
तदिच्छा वाऽनभिव्यक्ता,क्रियाहेतुःकुतोऽज्ञवत्॥१२॥

आप ईश्वर को कर्म रहित मानते हो, इस कारण उस ईश्वर में इच्छा और प्रयत्न ही सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि सब जगह कर्म सहित जीवों में ही इच्छा और प्रयत्न देखे जाते हैं; फिर ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न से ईश्वर मोक्ष का मार्ग बतलाता है यह बात भी आप की सिद्ध नहीं होती। यदि थोड़ी देर के लिये ईश्वर में इच्छा मान भी ली जाय तो भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह इच्छा अभिव्यक्त है या अनभिव्यक्त (आच्छादित), यदि अभिव्यक्त मानोगे तो उसका व्यक्त कराने वाला कोई चाहिये, जो उसका व्यक्त कराने वाला मानोगे वह भी यदि अनित्य है तो बिना इच्छा के व्यक्त हुए ही कैसे उत्पन्न होगया? यह प्रश्न उपस्थित होता है, और यदि इच्छा का व्यक्त करने वाला कारण नित्य है, तो उसने पहले से ही इच्छा को व्यक्त क्यों नहीं किया? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसलिये इच्छा को अभिव्यक्त नहीं मान सकते। और अनभिव्यक्त इच्छा से तो कभी कार्य होता ही नहीं है, इसलिये उसका तो मानना ही फ़िज़ूल है।

ज्ञानशक्त्यैव निःशेषकार्योत्पत्तौ प्रभुःकिल ।
सदेश्वर इति ख्यानेऽनुमानमनिदर्शनम् ॥ १३ ॥

(वैशेषिक) यदि ईश्वर में इच्छा और प्रयत्न नहीं सिद्ध होते हैं तो न सही, ज्ञान मात्र से ही वह हमेशा समस्त कार्यों को करने में समर्थ हो सकता है । (जैन) आप के इस अनुमान में उदाहरण भी तो चाहिये ? । (वैशेषिक)

समीहामन्तरेणापि, यथावक्ति जिनेश्वरः ।
तथेश्वरोऽपिकार्याणि, कुर्यादित्यप्यपेशलम् ॥१४॥

आप का माना हुआ जिनेन्द्रदेव ही इस अनुमान में उदाहरण हो सकता है, जिस प्रकार बिना इच्छा के ही वह धर्म का उपदेश देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी बिना इच्छा के समस्त कार्यों को कर सकता है । (जैन) हमारे माने हुए जिनेन्द्र का दृष्टान्त भी यहांपर ठीक नहीं घट सकता, क्योंकि—

सति धर्मविशेषे हि, तीर्थकृत्वसमाह्वये ।
ब्रूयाज्जिनेश्वरो मार्गं, न ज्ञानादेव केवलात् ॥ १५ ॥
सिद्धस्यापास्तनिःशेषकर्मणो वागसंभवात् ।
बिना तीर्थकरत्वेन, नाम्ना नार्थोपदेशता ॥ १६ ॥

जिनेन्द्रदेव भी ज्ञानमात्र से ही केवल धर्म का उपदेश नहीं देते, किन्तु तीर्थकरत्व नामक पुण्यातिशय के

रहने पर ही उपदेश देते हैं और वह अतिशय भी कर्मों का व शरीर का सम्बंध रहने पर ही उन में रहता है। जिस समय वे ही जिनेन्द्र देव समस्त कर्मों का नाश कर के सिद्ध हो जाते हैं, उस समय शरीर व कर्म्मों का अभाव हो जाने से धर्मोपदेश नहीं दे सकते इस प्रकार जिनेन्द्र का दृष्टान्त मान कर यदि आप ईश्वर को कर्त्ता मानोगे तो—

तथा धर्मविशेषोऽस्य, योगश्च यदि शाश्वतः।
तदेश्वरस्य देहोऽस्तु, योग्यन्तरवदुत्तमः॥ १७॥

उस ईश्वर में भी आपको "जिनेन्द्रमें तीर्थ-करत्व सरीखा" कोई योगादि से उत्पन्न होने वाला धर्म अवश्य मानना पड़ेगा, और उस धर्म के मानने से ईश्वर के साथ शरीर भी मानना होगा। और जब शरीर भी मान लिया फिर ईश्वर में और साधारण पुरुषों में भेद ही क्या रहेगा? इसलिये अन्त में जिनेन्द्र का दृष्टान्त देकर भी आप जब ईश्वर को जगत का कर्त्ता नहीं सिद्ध कर सके, तब आप को उसे कर्त्ता नहीं ही मानना चाहिये। (पौराणिक)

निग्रहानुग्रहौ देहं, स्वं निर्मायान्यदेहिनां।
करोतीश्वर इत्येतन्न परीक्षाक्षमं वचः॥ १८॥

वैशेषिक के मत में ईश्वर-कर्त्ता नहीं बनता तो न बनने दीजिये, हम तो "भक्त लोगों का अनुग्रह (फायदा) करने के लिये, और दुष्ट लोगों का निग्रह (नाश) करने के लिये" ईश्वर का शरीरधारी अवतार होना मानते हैं, बहुत से भक्त लोगों का अनुग्रह करने के लिये स्वयं भगवान ने सूकर, कछुवे आदि का अवतार लिया है, इसलिये शरीर धारी ईश्वर के मानने में तो कोई बाधा नहीं आती (जैन) आपका भी यह कहना ठीक नहीं है ।

देहान्तराद्विना तावत् स्वदेहं जनयेद्यदि ।
तदाप्रकृतकार्येऽपि, देहाधानमनर्थकम् ॥ १९ ॥
देहान्तरात्स्वदेहस्य, विधाने चानवस्थितिः ।
तथा च प्रकृतं कार्यं,कुर्यादीशो न जातुचित् ॥२०॥

क्योंकि यदि ईश्वर भक्तों के अनुग्रह के लिये कछुवे आदि के शरीर को बिना दूसरे शरीर के स्वयं ही बना लेता है, तो जैसे उसने एक कछुवे के शरीर रूपी कार्य को बिना दूसरे शरीर के स्वयं ही बना लिया, उस ही प्रकार अन्य कार्यों के लिये भी शरीर धारण करना फ़िज़ूल है, क्योंकि उन को भी वह बिना शरीर धारण किये ही कर सकता है । और यदि उस शरीर को दूसरे शरीर से बनाता है तो दूसरे शरीर के लिये तीसरा

शरीर मानना पड़ेगा, और तीसरे के लिये चौथा, इस प्रकार कहीं भी अन्त नहीं आवेगा, (इसे ही अनवस्था दोष कहते हैं) और दूसरे इन शरीरों के बनाने की उलझन में पड़ जाने से ईश्वर का "निग्रह अनुग्रह करना" सब ज्यों का त्यों रखा रह जायगा।

स्वयं देहाविधाने तु तेनैवव्याभिचारिता ।
कार्यत्वादेःप्रयुक्तस्य हेतोरीश्वरसाधने ॥ २१ ॥

और यदि ऐसा मानोगे कि ईश्वर अपने शरीर को नहीं बनाता है, किन्तु उस का शरीर स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है, तो जैसे ईश्वर का शरीर बिना ईश्वर की इच्छा व प्रयत्न के ही उत्पन्न हो गया, उस ही प्रकार संसार के प्रत्येक कार्य भी उत्पन्न हो जांयगे, फिर उन के लिये ही ईश्वर को कारण क्यों मानते हो। (शंकर)

यथाऽनीशः स्वदेहस्य, कर्त्ता देहान्तरान्मतः ।
पूर्वस्मादित्यनादित्वान्नानवस्था प्रसज्यते ॥ २२ ॥
तथेशस्यापि पूर्वस्माद्देहाद्देहान्तरोद्भवात् ।
नानवस्थेति यो ब्रूयात्तस्याऽनीशत्वमीशितुः ॥२३॥
अनीशः कर्मदेहेनानादिसंतानवर्त्तिना ।
यथैव हि सकर्मा नस्तद्वन्न कथमीश्वरः ॥ २४ ॥

जिस प्रकार संसारी जीवों का एक शरीर दूसरे शरीर से, दूसरा शरीर तीसरे शरीर से, तीसरा चौथे से, चौथा पांचवें से उत्पन्न होता है, और इस ही तरह अनादि काल से अनन्त शरीरों की संतति चलते रहने पर भी अनवस्था दोष नहीं आता, उसही प्रकार ईश्वर के एक शरीर को दूसरे से और दूसरे को तीसरे से उत्पन्न मानने में भी अनवस्था दोष नहीं आ सकता। (जैन) इस प्रकार ईश्वर के साथ अनन्त शरीरों का सम्बन्ध मान कर आपने तो उस को एक तरह का कर्म सहित संसारी जीव ही बना लिया, और उसका ईश्वर पना ही नष्ट कर दिया, क्यों कि जैसे संसारी जीव अनादि-कालीन शरीरों का सम्बन्ध होने से ईश्वर नहीं कहलाते, और बराबर कर्म लिप्त रहते हैं, उस ही प्रकार ईश्वर को भी संसारी जीवों का दृष्टान्त देने से कर्म लिप्त ही मानना पड़ेगा, और कर्मलिप्त मानने से उस में ईश्वर पना ही क्या रहेगा ?

ततो नेशस्यदेहोऽस्ति, प्रोक्तदोषानुषंगतः ।
नापि धर्मविशेषोऽस्य, देहाभावे विरोधतः ॥ २६ ॥
येनेच्छामंतरेणाऽपि तस्यकार्ये प्रवर्तनम् ।
जिनेन्द्रवद्घटेतेति, नोदाहरणसंभवः ॥ २७ ॥

इस लिये ईश्वर के न शरीर ही सिद्ध हो सकता है और न कोई जिनेन्द्र की तरह का धर्म विशेष ही, जिस से कि जिनेन्द्र की तरह बिना इच्छा के ही उसको जगत का कर्त्ता मान लिया जावे। (सदाशिव) यदि ईश्वर के नित्य ज्ञान को कर्त्ता मान लिया जाय तो क्या हानि है। (जैन)

ज्ञानमीशस्य नित्यं चेदशरीरस्य न क्रमः।
कार्याणामक्रमाद्धेतोः, कार्यक्रमविरोधतः॥ २६॥

यदि शरीर रहित ईश्वर के नित्य ज्ञान को संसार के कार्यों का कारण माना जायगा तो क्रम २ से होने वाले कार्यों को भी एक साथ होना पड़ेगा, क्योंकि न्याय का ऐसा नियम है कि समर्थ कारण के होने पर कार्य अवश्य ही होता है। जब ईश्वर का ज्ञान समर्थ कारण हमेशा मौजूद रहता है तब कार्य क्रम २ से कदापि नहीं हो सकते। अथवा यदि कार्य क्रम २ से होंगे तो ईश्वर का नित्य ज्ञान समर्थ कारण सिद्ध नहीं हो सकता। इस के अतिरिक्त ईश्वर के नित्य ज्ञान को चाहे प्रमाण-स्वरूप (कारणरूपज्ञान) माना जाय अथवा फल स्वरूप (कार्यरूपज्ञान) माना जाय वह सिद्ध भी नहीं होता। क्योंकि—

तद्बोधस्य प्रमाणत्वे, फलाभावः प्रसज्यते ।
ततःफलावबोधस्यानित्यस्येष्टौ मतक्षतिः॥ २७ ॥
फलत्वे तस्य नित्यत्वं, न स्यान्मानात्समुद्भवात् ।
ततोऽनुद्भवने तस्य, फलत्वं प्रतिहन्यते ॥ २८ ॥

जैसे जैन अनित्य सम्यग्ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, और उस के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होना उस प्रमाण का फल (कार्य) मानते हैं, उस ही प्रकार ईश्वर के ज्ञान को प्रमाणस्वरूप नित्य मानने में उसका कोई भी कार्य नहीं बन सकता। और एक ही ज्ञान को प्रमाणस्वरूप व फलस्वरूप मानने में वैशेषिक सिद्धान्त का घात भी होता है क्योंकि ईश्वर के ज्ञान को प्रमाण स्वरूप मानने से नित्यपना, फल स्वरूप मानने से अनित्यपना सिद्ध होता है। और वैशेषिक मत में ईश्वर के ज्ञान को अनित्य न मान कर केवल नित्य ही माना है। यदि ईश्वर के ज्ञान को केवल फल स्वरूप ही माना जाय तो वह नित्य सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि फल स्वरूप ज्ञान तब ही माना जा सकता है, जब कि प्रमाण से उसकी उत्पत्ति मानी जाय, और जब उसकी उत्पति मान ली गई, तब नित्यपने की शंका करना भी व्यर्थ है। यदि उस

ज्ञान को फल स्वरूप तो माना जाय, किन्तु उस की उत्पत्ति न मानी जाय, तो बिना उत्पन्न हुए वह फल ही क्या कहलावेगा । इस लिये ईश्वर के जिस नित्य ज्ञान को वैशेषिक मत वाले संसार के कार्यों का कारण मान कर जगत को बुद्धिमान ईश्वर का बनाया हुआ सिद्ध करना चाहते थे, वह ज्ञान न प्रमाण स्वरूप सिद्ध होता है, न प्रमाण व फल उभय स्वरूप, और न केवल फल स्वरूप ही । इन सब दोषों को दूर करने के कारण थोड़ी देर के लिये वैशेषिक लोग ईश्वर के ज्ञान को अनित्य भी मान लें तो भी उनका निर्वाह नहीं हो सकता । क्योंकि—

अनित्यत्वे तु तज्ज्ञानस्यानेन व्यभिचारिता ।
कार्यत्वादेर्महेशेनाकरणेऽस्य स्वबुद्धितः॥ २९ ॥
बुद्ध्यन्तरेण तद्बुद्धेः, करणे चानवस्थितिः ।
नानादिसंततिर्युक्ता, कर्मसंतानतो विना ॥ ३० ॥

वह ईश्वर का अनित्य ज्ञान विना ईश्वर रूप कारण के यदि स्वयं ही उत्पन्न माना जायगा, तो और कार्यों की उत्पत्ति के लिये भी फिर ईश्वर को कारण मानने की क्या ज़रूरत है । और यदि उस ज्ञान की उत्पत्ति दूसरे ज्ञान से, दूसरे की तीसरे से,

तीसरे की चौथे से मानी जायगी तो एक के लिये एक मानते जाने से अनन्त ज्ञानों की कल्पना करनी पड़ेगी, और बिना प्रमाण के ही अनन्त ज्ञानों की कल्पना करते जाने से अनवस्था दोष आ जायगा। यदि अनवस्था दोष को हटाने के कारण इन अनन्तज्ञानों की बीज वृक्ष की तरह अनादि संतान मानोगे, तो ईश्वर के साथ अनादि कर्मों की संतान भी माननी पड़ेगी। क्योंकि बिना कारण में क्रम माने कार्य में क्रम नहीं बन सकता, और ईश्वर रूप कारण में नित्य होने से क्रम बनता ही नहीं है, इस लिये अदृष्ट स्वरूप कर्म (वैशेषिक के माने हुए धर्म अधर्म नामक कर्म) संतान के सिवा, ज्ञान के क्रम २ से होने में और कोई कारण नहीं सिद्ध हो सकता। और कर्म-संतान, बिना ईश्वर का शरीर माने नहीं सिद्ध हो सकता, और ईश्वर को सशरीर मानने से ईश्वर में मुक्तपना सिद्ध नहीं होता, और ईश्वर को मुक्त वैशेषिकों ने माना है। इस प्रकार अनेक दोष आने से ईश्वर का ज्ञान अनित्य भी सिद्ध नहीं होता।

अव्याप्पि च यदि ज्ञानमीश्वरस्य तदा कथं।
सकृत्सर्वत्र कार्याणामुत्पत्तिर्घटते ततः ॥ ३१ ॥

यद्येकत्र स्थितं देशे ज्ञानं सर्वत्र कार्यकृत्।
तदा सर्वत्र कार्याणां सकृत् किं न समुद्भवः॥ ३२॥
कारणांतरवैकल्यात्तथाऽनुत्पत्तिरित्यपि।
कार्याणामीश्वरज्ञानाहेतुकत्वं प्रसाधयेत्॥ ३३॥
सर्वत्र सर्वदा तस्य व्यतिरेकाप्रसिद्धितः।
अन्वयस्यापि संदेहात्कार्यं तद्धेतुकं कथम्॥३४॥

और यदि ईश्वर के अव्यापि (थोड़ी जगह में रहने वाले) ज्ञान को ही समस्त कार्यों का हेतु मानोगे तो भी उस ज्ञान से एक साथ ही सब जगह कार्य नहीं हो सकेंगे, क्योंकि अल्पदेशी ज्ञानरूप कारण अल्पदेश में ही कार्यों को उत्पन्न कर सकता है, सर्व देशों में उत्पन्न नहीं कर सकता। और यदि एक देश में रहने वाले ज्ञान से ही सर्व देशों में कार्यों की उत्पत्ति मानोगे तो हम यह भी कह सकते हैं कि जैसे एक देश में ज्ञान के रहने पर भी सर्व जगह एक साथ ही कार्यों की उत्पत्ति हो जाती है, वैसे ही एक कालमें ज्ञान के रहने पर ही क्रम २ से होने वाले कार्य भी एक साथ ही हो जाने चाहियें। इसका उत्तर यदि यह दिया जाय कि और कारणों के न मिलने से एक साथ सब कार्य नहीं हो पाते हैं, तो फिर भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब ज्ञान के रहते हुए भी और

कारणों के विना मिले कार्य उत्पन्न नहीं होते, तथा और कारणों के रहते नियम से कार्य उत्पन्न हो जाते हैं तो और कारणों को ही संसार के कार्यों के उत्पन्न करने वाले मानना चाहिये, क्योंकि और कारणों के होने पर ही कार्य उत्पन्न होते हैं, इस लिये उन के साथ में अन्वय बनता है। तथा अन्य कारणों के न रहने पर कार्य भी उत्पन्न नहीं होते, इस लिये उन के साथ ही व्यतिरेक बनता है। ईश्वर के ज्ञान का कभी भी अभाव नहीं होता इस लिये उस के साथ व्यतिरेक तो बनता ही नहीं, किन्तु उस के सदा मौजूद रहने पर भी कभी कोई कार्य होता है और कभी नहीं होता, इस लिये अन्वय में भी सन्देह ही रहता है इस प्रकार ईश्वर के अल्पदेशी ज्ञान के साथ भी जब संसार के कार्यों का अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता, फिर उस को कारण मानना निरर्थक है।

एतेनैवेश्वरज्ञानं, व्यापि नित्यमपाकृतं ।
तस्येशवत्सदाकार्यक्रमहेतुत्वहानितः ॥ ३५ ॥

इस के अतिरिक्त ईश्वर के ज्ञान को व्यापक और नित्य मान कर यदि कोई निर्वाह करना चाहे तो वह भी नहीं हो सकता क्योंकि जैसे नित्य ईश्वर को कारण मानने पर कार्यों का क्रम २ से होना सिद्ध नहीं होता, उस ही प्रकार उस के नित्य व व्यापक ज्ञान को भी कारण

मानने पर संसार के कार्य्यों का क्रम २ से होना सिद्ध नहीं हो सकता।

अस्वसंविदितं ज्ञानमीश्वरस्ययदीष्यते।
तदा सर्वज्ञता न स्यात् स्वज्ञानस्याप्रवदेनात् ॥३६॥

नैयायिक व वैशेषिक वग़ैरह ईश्वर के ज्ञान को ऐसा मानते हैं कि वह अन्य पदार्थों को तो जानता है, किन्तु अपने स्वरूप को नहीं जानता, इस लिये उन पर यह शंका उपस्थित होती है कि जब ईश्वर के ज्ञान ने अपने स्वरूप को भी नहीं जाना फिर ईश्वर में सर्वज्ञपना कैसा? क्योंकि सर्वज्ञ तो सब पदार्थों के जानने वाले को कहते हैं और वह अपने स्वरूप को भी नहीं जानता इस कारण ईश्वर में सर्वज्ञपना नहीं सिद्ध होता।

ज्ञानान्तरेण तद्वित्तौ तस्याप्यन्येन वेदनं।
वेदनेन भवेदेवमनवस्था महीयसी ॥ ३७ ॥
गत्वा सुदूरमप्येवं स्वसंविदितवेदने।
इष्यमाणे महेशस्य प्रथमं तादृगस्तुवः ॥ ३८ ॥

और यदि यह कहोगे कि ईश्वर का ज्ञान अपने को स्वयं नहीं जानता तो क्या हुआ, ईश्वर दूसरे ज्ञान से

पहले ज्ञान को भी जान लेता है, इस कारण ऊपर कहा हुआ दोष हट जाने से ईश्वर में सर्वज्ञपना बन जाता है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने अपने पहले ज्ञान को तो दूसरे ज्ञान से जान लिया, परन्तु दूसरे ज्ञान को किस से जाना, यदि कहोगे कि तीसरे ज्ञान से, तो हम पूछेंगे कि तीसरे ज्ञान को किस से जाना, इस प्रकार चाहे जहां तक चले जाओ, अन्त में एक न एक ज्ञान ऐसा मानना ही पड़ेगा जिस को कोई भी जानने वाला नहीं मिलेगा। उस अन्त के ज्ञान को न जान सकने के कारण फिर भी ईश्वर का एक तो सर्वज्ञपना सिद्ध नहीं हो सकेगा, दूसरे अनवस्था दोष आ जायगा, और यदि चलते २ कोई ज्ञान अन्त में अपने को व दूसरों को जानने वाला भी अनवस्था दोष हटाने के कारण मान लोगे तो हम पूछते हैं कि पहले ज्ञान ने ही आप का क्या बिगाड़ा है उस को भी क्यों नहीं अपना व दूसरों का जानने वाला मान लेते। क्यों कि कहीं न कहीं तो आप को चल कर एक ज्ञान अपने व पर को जानने वाला मानना पड़ता ही है (वैशेषिक) खैर, महेश्वर का ज्ञान अपने व पर को जानने वाला ही सिद्ध होता है, तो ऐसा ही सही, किन्तु उस ज्ञान को ईश्वर से भिन्न मानने में तो कोई हानि नहीं है।

तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं भिन्नं महेश्वरात् ।
कथं तस्येति निर्देश्यमाकाशादिवदंजसा ॥ ३९ ॥
समवायेन तस्यापि तद्भिन्नस्य कुतो गतिः ।
इहेदमिति विज्ञानादबाध्यादव्यभिचारि तत् ॥४०॥
इह कुंडे दधीत्यादि विज्ञानेनास्तविद्विषा ।
साध्ये सम्बन्धमात्रे तु परेषां सिद्धसाधनम् ॥ ४१ ॥

(जैन) हानि इतनी ही है, कि महेश्वर का ज्ञान जैसे महेश्वर से सर्वथा भिन्न है वैसे ही आकाश से भी सर्वथा भिन्न है, फिर वह ज्ञान आकाश का नहीं है और महेश्वर का है, यह नियम नहीं बनता। (वैशेषिक) महेश्वर का ज्ञान महेश्वर में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है और आकाश में उस का समवाय सम्बन्ध नहीं है, इस लिये नियम बन ही जाता है (जैन) समवाय सम्बन्ध भी जब आप के मत में महेश्वर व ज्ञान से सर्वथा भिन्न है, तब महेश्वर व ज्ञान से सर्वथा भिन्न इस समवाय सम्बन्ध की सिद्धि भी नहीं हो सकती, क्योंकि यहां पर भी फिर वही प्रश्न उठता है कि यह समवाय सम्बन्ध भी महेश्वर और ज्ञान का ही क्यों है, आकाश और ज्ञान का क्यों नहीं। (वैशेषिक) महेश्वर में ही ज्ञान की अबाधित प्रतीति होती है आकाश में

नहीं होती, इस लिये महेश्वर का ही सम्बन्ध माना जाता है आकाश का नहीं माना जाता (जैन) यदि आप ऐसा मानते हो कि जहां जिस की बाधा रहित प्रतीति होती है वहां पर उस का समवाय सम्बन्ध ही होता है, तो फिर संयोग सम्बन्ध और समवाय सम्बन्ध में कोई अन्तर ही नही रहेगा क्यों कि जिस कुंडे में दही भरी रहती है, उस में भी ऐसा ज्ञान होता है कि "इस कुंडे में दही है" (वैशेषिक) "महेश्वर में ज्ञान है" इस प्रतीति से समवाय की सिद्धि न सही ज्ञान और महेश्वर का सम्बन्ध मात्र तो निश्चित हो जाता है। (जैन) यदि सम्बन्ध मात्र ही सिद्ध करना चाहते हो तो हमारी कोई हानि नहीं, किन्तु समवाय की सिद्धि जो आप करना चाहते थे वह तो सिद्ध नहीं हो सकती ।

सत्यामयुतसिद्धौ चेन्नेदं साधुविशेषणम् ।
शास्त्रीयायुतसिद्धत्वविरहात्समवायिनोः ॥ ४२ ॥
द्रव्यं स्वावयवाधारं गुणो द्रव्याश्रयो यतः ।
लौकिक्ययुतासिद्धिस्तु भवेद्दुग्धाम्भसोरपि ॥४३॥

(वैशेषिक) यद्यपि सम्बन्ध मात्र से समवाय की सिद्धि नहीं होती तो भी जो पदार्थ अयुतसिद्ध होते हैं अर्थात् जिन का आधार पृथक् २ सिद्ध नहीं होता

उन के सम्बन्ध को समवाय मानने में कोई बाधा नहीं आती । (जैन) आपने जो अयुतसिद्ध पदार्थों के सम्बन्ध को समवाय माना है उस का भी आप के मत से ही खण्डन होता है । क्योंकि आप जिन २ पदार्थों में समवाय मानते हो उनका आधार भी स्वयं ही पृथक् २ मानते हो, जैसे कि आप के मत में तंतुओं और पट का परस्पर में समवाय सम्बन्ध है, और आप स्वयं ही पट का आधार तंतुओं को व तंतुओं का आधार उन के अवयवों को मानते हो । इस तरह आप के मत से ही समवाय सम्बन्ध वालों का भिन्न २ आश्रय सिद्ध हो जाता है, इस कारण परस्पर में अयुतसिद्धि ही नहीं बनती, और अयुतसिद्धि न बनने से फिर भी आप का समवाय सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, और यदि ज्ञान व महेश्वर की लोक व्यवहार की अपेक्षा से अयुतसिद्धि मान कर परस्पर में समवाय सम्बंध मानोगे, तो भी उस में कुछ महत्व नहीं होगा क्योंकि लौकिकी अयुतसिद्धि तो संयोग सम्बन्ध वाले दूध और जल में भी होती है। किन्तु दूध व जल का परस्पर आप समवाय सम्बंध नहीं मानते ।

पृथगाश्रयवृत्तित्वं युतसिद्धि र्नचानयोः ।
सास्तीशस्य विभुत्वेन परद्रव्याश्रितिच्युतेः ॥ ४४॥

ज्ञानस्याऽपीश्वरादन्यद्रव्यवृत्तित्वहानितः ।
इति येऽपि समादध्युस्तांश्च पर्यनुयुंज्महे ॥ ४५ ॥
विभुद्रव्यविशेषाणामन्याश्रयविवेकतः ।
युतसिद्धिःकथं नु स्यादेकद्रव्यगुणादिषु ॥ ४६ ॥
समवायः प्रसज्येतायुतसिद्धौ परस्परं ।
तेषां तद्धितयासत्वे स्याद्व्याघातो दुरुत्तरः ॥४७॥

(वैशेषिक) यद्यपि अयुतसिद्धि का पूर्वोक्त लक्षण यहां पर नहीं घटता, तथापि युतसिद्धि का लक्षण जो "पृथक् २ आधार में रहना" है वह भी महेश्वर व ज्ञान में नहीं घटता, क्योंकि ईश्वर के व्यापक होने से उसका तो कोई आधार है ही नहीं, रहा ज्ञान, वह भी ईश्वर को छोड़ कर और किसी आधार में नहीं रहता, इस लिये जब महेश्वर व ज्ञानकी युतसिद्धि नहीं बनती, तब इन दोनों की अयुतसिद्धि ही मान ली जाय तो क्या हानि है । (जैन) यदि आप महेश्वर व ज्ञान का पृथक् २ आधार न सिद्ध होने से ही इन दोनों की अयुतसिद्धि मानोगे, तो हम कहते हैं कि, आकाश और आत्मा का भी तो व्यापक होने से पृथक २ आधार सिद्ध नहीं होता, उन की भी अयुतसिद्धि क्यों नहीं मान लेते, और अयुतसिद्धि होने से आकाश व आत्मा का भी समवाय

सम्बन्ध क्यों नहीं मानते। एक द्रव्य में रहने वाले गुण, कर्म व सामान्य का आश्रय भी पृथक् २ न होने से उन की भी अयुतसिद्धि हो जानी चाहिये, और अयुत सिद्धि होने से परस्पर में आकाश व आत्मा का, तथा एक द्रव्य में रहने वाले गुण, कर्मादिकों का समवाय सम्बन्ध हो जाना चाहिये। (वैशेषिक) यद्यपि आकाश व आत्मा आदिक व्यापक पदार्थों का "भिन्न २ आधार में रहना" इस लक्षण वाली युतसिद्धि नहीं बनती है तो भी "संयोग की हेतु" इस लक्षण वाली युतसिद्धि बन जाती है इस लिये कोई दोष नहीं आता, (जैन) यह भी आप का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आप के मत से ही कर्म भी संयोग का हेतु होता है इस लिये युतसिद्धि का लक्षण कर्म में भी चले जाने से अति-व्याप्ति दोष आजाता है और अति-व्याप्ति दोष आ-जाने से युतसिद्धि का यह लक्षण भी आप का नहीं बना, और लक्षण न बनने से युतसिद्धि सिद्ध नहीं हुई, जब युतसिद्धि नहीं सिद्ध हो सकी तब युतसिद्धि का अभावरूप अयुतसिद्धि भी सिद्ध नहीं हो सकती। युतसिद्धि के न सिद्ध होने से संयोग सम्बन्ध सिद्ध नहीं हुआ और अयुतसिद्धि के सिद्ध न होने से समवाय सम्बन्ध नहीं सिद्ध हुआ। जब संयोग मात्र ही का

निषेध हो गया, तब आप का माना हुआ आत्मा और मन का संयोग भी कैसे बन सकता है। जब आत्मा और मन का संयोग नहीं बना तब इन दोनों के संयोग से जो आप बुद्धि की उत्पत्ति मानते थे वह भी नहीं बन सकती। बुद्धि की सिद्धि न होने से उस के द्वारा जो आत्मा का अनुमान होता था, वह भी नहीं सिद्ध होगा। दो पदार्थों के संयोग से जो शब्द उत्पन्न होता था, वह भी उत्पन्न नहीं होगा, शब्द का अभाव होने पर उस के द्वारा आकाश की सिद्धि नहीं हो सकेगी। बहुत से परमाणुओं का संयोग न होने से अवयवी पदार्थ घट, पट, चन्द्र, सूर्य शरीरादिक भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे, इन के सिद्ध न होने से दिशा और काल द्रव्य भी आप के मत में सिद्ध नहीं होंगे, क्योंकि चन्द्र सूर्यादिक के निमित्त से आप दिशा को सिद्ध करते हो, और शरीरादिक की पहले पीछे उत्पत्ति होने से काल की सिद्धि करते हो। समवाय सम्बन्ध का अभाव होने से समवाय सम्बन्ध वाले मन व पार्थिव आदिक परमाणुओं का तथा गुण कर्मादि का भी अभाव हो जायगा। इस प्रकार युतसिद्धि के न बनने से वैशेषिक के माने हुए किसी भी पदार्थ की सिद्धि नहीं होगी। यही इन के मत में व्याघात आता है।

युतप्रत्ययहेतुत्वाद् युतासिद्धिरितीरणे ।
विभुद्रव्यगुणादीनां युतासिद्धिः समागता ॥४८॥

(वैशेषिक) आकाश व आत्मादिक व्यापक पदार्थों में संयुक्तपनेका ज्ञान होता है, इसलिये उन की युत सिद्धि बन जायगी । (जैन) इस प्रकार संयुक्तपने का ज्ञान तो वहां भी होता है । जहां २ पर कि, आप अयुतसिद्धि होने से समवाय मानते हो, जैसे कि गुण-गुणी में, क्रिया-क्रियावान में, अवयव अवयवी में, यहां पर भी आपको युतसिद्धि माननी पड़ेगी और युतसिद्धि होने से समवाय के स्थान में संयोग की सिद्धि हो जायगी, इस लिये फिर भी युतसिद्धि नहीं बनी,

ततो नायुतसिद्धिः स्यादित्यसिद्धं विशेषणं ।
हेतो र्विपक्षतस्तावद् व्यवच्छेदं न साधयेत् ॥४९॥
सिद्धेऽपि समवायस्य समवायिषु दर्शनात् ।
इहेदमितिसंवित्तेः साधनं व्यभिचारि तत् ॥५०॥

और युतसिद्धि न बनने से अयुतसिद्धि भी नहीं बनी, अयुतसिद्धि के न बनने से, आपने जो समवाय की सिद्धि के लिये दिये हुए हेतु का विशेषण "अयुतसिद्ध" दिया था वह भी नहीं सिद्ध हुआ और जब हेतु का विशेषण स्वयं ही असिद्ध हो गया, तब उसके द्वारा हेतु की विपक्ष से

व्यावृत्ति कैसे हो सकती है। यदि थोड़ी देर के लिये समवाय की सिद्धि मान भी ली जाय, तो भी हम पूछते हैं कि जैसे महेश्वर में ज्ञान समवाय सम्बन्ध से रहता है, उसी प्रकार महेश्वर और ज्ञानरूप समवायियों में समवाय भी दूसरे समवाय सम्बन्ध से रहना चाहिये, क्योंकि दोनों स्थानों में एक सी ही प्रतीति होती है, और आपने समवायियों में समवाय का दूसरे समवाय सम्बन्ध से रहना माना नहीं है किन्तु विशेषण विशेष्य सम्बन्ध से रहना माना है। इस प्रकार समवाय की सिद्धि के लिये दिया हुआ हेतु जब विशेषण विशेष्य सम्बन्ध में चला गया, तब वह व्यभिचारी होगया, और हेतु के व्यभिचारी होने से फिर भी समवाय की सिद्ध नहीं हुई। (वैशेषिक)

समवायान्तराद् वृत्तौ समवायस्य तत्वतः।
समवायिषु तस्यापि परस्मादित्यनिष्ठितिः ॥५१॥
तद्बाधाऽस्तीत्यबाधत्वं नाम नेह विशेषणं।
हेतोः सिद्धमनेकान्तो यतोऽनेनेति ये विदुः ॥५२॥
तेषामिहेति विज्ञानाद्विशेषणविशेष्यता।
समवास्य तद्वत्सु तत एवन सिध्यति ॥ ५३ ॥
विशेषणविशेष्यत्वसंबंधोऽप्यन्यतो यदि।
स्वसंबधिषु वर्त्तेत तदा बाधानवस्थितिः ॥५४॥

समवायियों में समवाय को यदि दूसरे समवाय से माना जाय तो दूसरे समवाय को तीसरे समवाय से मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनन्त समवाय मानते चले जाने में अनवस्था दोष आजायगा। इसलिये समवाय की सिद्धि के लिये दिये हुए हेतु का "अबाधित" यह विशेषण समवायियों में समवाय के मानने से सिद्ध नहीं होता, और जब विशेषणही सिद्ध नहीं हुआ, तब इस के द्वारा व्यभिचार दोष भी नहीं आ सकता। (जैन) यदि आप महेश्वर और ज्ञान में समवाय का विशेषण विशेष्य सम्बन्ध से रहना स्वीकार करते हैं, तो हम पूछते हैं कि विशेषण विशेष्य सम्बन्ध भी अपने संबंधियों में किस संबंध से रहता है? सर्वथा भेदपक्ष में विना सम्बन्धान्तर के तो आप मान नहीं सकते। विशेषण विशेष्य सम्बन्ध से मानने में फिर वही अनवस्था दोष आता है। क्योंकि दूसरे विशेषण विशेष्य संबंध के लिये आपको तीसरा विशेषण विशेष्य सम्बन्ध मानना पड़ेगा।

विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययादवगम्यते ।
विशेषणविशेष्यत्वमित्यप्येतेन दूषितम् ॥ ५५ ॥

(वैशेषिक) विशेषणविशेष्य ज्ञान से विशेषण विशेष्य संबंध की सिद्धि मानने पर अनवस्था दोष दूर हो जाता है। (जैन) जिस प्रकार "महेश्वर में ज्ञान" यहां पर

आधार और आधेय का ज्ञान होने से अनवस्था दोष आता है उस ही प्रकार यहां पर भी आधाराधेय का ज्ञान होने से अनवस्था दोष आता ही है ।

तस्यानंत्यात्प्रपत्तृणामाकांक्षाक्षयतोऽपि वा ।
न दोष इति चेदेवं समवायादिनाऽपि किं ॥५६॥
गुणादिद्रव्ययोर्भिन्नद्रव्ययोश्च परस्परं ।
विशेषणविशेष्यत्वसंबधोऽस्तु निरंकुशः ॥ ५७ ॥
संयोगःसमवायो वा तद्विशेषोऽस्त्वनेकधा ।
स्वातन्त्र्ये समवायस्य सर्वथैक्ये च दोषतः ॥५८॥

(वैशेषिक) अनवस्था दोष तो तब आ सकता है, जब कि हम विशेषणविशेष्यत्व सम्बन्ध को वास्तव में तो एक ही मानते हों, और किसी दोष को हटाने के लिये हमको अनेक विशेषण विशेष्य सम्बन्ध कल्पना करने पड़ें, किन्तु हम तो वास्तव में ही अनंत विशेषण विशेष्य संम्वन्ध मानते हैं, फिर अनवस्था दोष कैसे आ सकता है । अथवा जब तक जानने वालों की इच्छा रहती है तब तक वे विशेषण विशेष्य सम्बन्ध कल्पना करते रहते हैं, और जब उन की इच्छा नष्ट हो जाती है, तब विशेषण विशेष्य की कल्पना भी शांत हो जाती है, इस प्रकार अनंत विशेषण विशेष्य संबंधों की कल्पना होने

से भी अनवस्था दोष नहीं आता। (जैन) यदि इस प्रकार आप अनंत विशेषण विशेष्य सम्बन्ध मानते हो तो फिर समवाय व संयोग संबंध मानने की भी क्या आवश्यकता है, सब जगह विशेषण विशेष्य संबंध मान कर संयोग व समवाय को भी उस के ही भेद क्यों नहीं मान लेते। (वैशेषिक) समवाय सम्बंध स्वतंत्र एक भिन्नही पदार्थ है वह विशेषण विशेष्य संबंध का भेद कैसे हो सकता है। (जैन) समवाय को सर्वथा एक वो स्वतंत्र पदार्थ मानने में निम्न लिखित बहुत से दोष आते हैं।

स्वतन्त्रस्य कथं तावदाश्रितत्वं स्वयं मतं।
तस्याश्रितत्ववचने स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते ॥५९॥
समवायिषु सत्स्वेव समवायस्य वेदनात्।
आश्रितत्वे दिगादीनां मूर्त्तद्रव्याश्रितिर्न किं ॥६०॥
कथं चानाश्रितः सिध्येत्संबंधः सर्वथा क्वचित्।
स्वसंवंधिषु येनातः संभवेन्नियमस्थितिः ॥६१॥

समवाय को यदि आप स्वतंत्र पदार्थ मानते हो तो फिर उस को संवंधियों के आश्रित क्यों मानते हो, और यदि आश्रित ही मानना है तो स्वतंत्र क्यों कहते हो, क्योंकि समवाय को दूसरे के आश्रित रहने पर भी

यदि स्वतंत्र मान लिया जाय तो फिर परतन्त्र कोई भी नहीं ठहरेगा। (वैशेषिक) वास्तव में तो समवाय संबंध स्वतंत्र ही पदार्थ है, परन्तु सम्बन्धियों के रहने पर ही समवाय का व्यवहार होता है, इसलिये उपचार से आश्रित मान लेते हैं; और ऐसा मानने में कोई हानि भी नहीं है। (जैन) जिस प्रकार संबंधियों के होने पर ही समवाय का व्यवहार होने से, आपने उस को आश्रित मान लिया है, उसी प्रकार मूर्त्त द्रव्यों के होने पर ही दिशा आदिक व्यापक पदार्थों का व्यवहार होता है, इसलिये दिशा आदिक व्यापक-पदार्थ भी आप को आश्रित ही मानने पड़ेंगे। और इन को आश्रित मानने से आपका जो यह सिद्धान्त है कि—"षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" अर्थात् नित्य द्रव्यों को छोड़ कर और जो छः भाव रूप पदाथ हैं वे सब दूसरों के आश्रित रहते हैं, उस का स्वयं आप के मत से ही खण्डन हो जायगा। (वैशेषिक) वास्तव में तो हम समवाय को अनाश्रित ही मानते हैं, फिर आपने समवाय का दृष्टान्त देकर दिशा आदिक पदार्थों को आश्रित कैसे सिद्ध कर दिया, (जैन) यदि आप समवाय को सर्व्वथा अनाश्रित ही मानते हैं, तो भी समवाय का अपने संबंधियोंके साथ यह नियम नहीं बन सकता, कि यह समवाय इन ही संबंधियों का है, औरों का नहीं है इस के अतिरिक्त समवाय को सर्वथा अनाश्रित मानने

से उस में सम्बन्धपनेका भी निषेध हो जाता है, क्योंकि ऐसा अनुमान हो सकता है, कि "समवाय" सम्बन्ध नहीं है, सर्वथा अनाश्रित होने से, इसलिये समवाय को सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये उस को अनाश्रित पदार्थ न मान कर, संबंधियों के आश्रित ही मानना चाहिये ।

एक एव च सर्वत्र समवायो यदीष्यते ।
तदा महेश्वरे ज्ञानं समवैति न खे कथम् ॥ ६२ ॥

इस ही प्रकार समवाय को सर्वथा एक ही पदार्थ मानने में भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब समवाय सर्वथा एक ही पदार्थ है, तब ज्ञान, समवाय संबंध से महेश्वर में ही क्यों रहता है, आकाशादिक जड़ पदार्थों में क्यों नहीं रहता ।

इहेति प्रत्ययोऽप्येष, शंकरे न तु खादिषु ।
इति भेदःकथं सिध्येन्नियामकमपश्यतः ॥ ६३ ॥

(वैशेषिक) महेश्वर में ही ज्ञान की प्रतीति होती है, और आकाश आदिक में नहीं होती, इसलिये महेश्वर में ही ज्ञान का समवाय माना जाता है, आकाशादिक में नहीं माना जाता । (जैन) महेश्वर में ही ज्ञान की प्रतीतिका नियम भी आपने विना नियामक के कैसे बना लिया (वैशेषिक)

न चाऽचेतनता तत्र सम्भाव्येत नियामिका ।
शंभावपि तदास्थानात् खादेस्तदविशेषतः ॥६४॥

आकाश में अचेतनता रहती है, और ईश्वर में नहीं रहती, इसलिये इस अचेतनता को ही महेश्वर में ज्ञान का समवाय मानने के लिये यदि नियामक मान लिया जाय तो क्या हानि है। (जैन) जिस प्रकार आकाश, ज्ञान से भिन्न होने के कारण अचेतन माना जाता है, उसी प्रकार महेश्वर, को भी आप के मत से ज्ञान से, सर्वथा भिन्न होने के कारण अचेतन ही मानना पड़ेगा, क्यों कि ज्ञान से भेद की अपेक्षा आकाश व महेश्वर में कोई भी अंतर नहीं है।

नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता स्वयं ज्ञानस्य केवलं ।
समवायात्सदा ज्ञाता यद्यात्मैव स किं स्वतः ॥६५॥
नायमात्मा न चानात्मा स्वात्मत्वसमवायतः ।
सदात्मैवेति चेदेवं द्रव्यमेव स्वतोऽसिधत् ॥६६॥
नेशो द्रव्यं नचाद्रव्यं द्रव्यत्वसमवायतः ।
सर्वदा द्रव्यमेवेति यदि सन्नेव स स्वतः ॥ ६७ ॥
न स्वतः सन्नसन्नापि सत्वेन समवायतः ।
सन्नेव शश्वदित्युक्तौ व्याघातः केन वार्यते ॥६८॥

यदि यह कहोगे कि ईश्वर न तो स्वयं ज्ञाता (जानने वाला चेतन) है और न स्वयं अज्ञाता, (नहीं जानने वाला अचेतन) किन्तु ज्ञान के समवाय से ज्ञाता है, और आकाश स्वयं ही अचेतन है, इसलिये महेश्वर और आकाश में भेद है ही, तो हम पूछते हैं कि जैसे आप ईश्वर को न स्वयं चेतन मानते हो और न स्वयं अचेतन मानते हो, उसी प्रकार ईश्वर को आत्मा भी मानते हो या नहीं। (वैशेषिक) ईश्वर न स्वयं आत्मा ही है, और न स्वयं अनात्मा ही है किंतु आत्मत्वधर्म के समवाय से आत्मा माना जाता है। (जैन) यदि ईश्वर स्वयं आत्मा या अनात्मा भी नहीं है, तो क्या स्वयं द्रव्य भी नहीं है? (वैशेषिक) जब हम धर्म व धर्मी का सर्वथा भेद मानते हैं, तब वह ईश्वर स्वयं द्रव्य, अथवा अद्रव्य कैसे हो सकता है, द्रव्यत्व जाति के समवाय से ही ईश्वर द्रव्य कहा जा सकता है, (जैन) तो हम को मालूम होता है कि आप ईश्वर को स्वयं सत्स्वरूप भी नहीं मानते होगे। (वैशेषिक) इस में क्या संदेह है, ईश्वर स्वयं सत्स्वरूप अथवा असत्स्वरूप नहीं ही होता है, किंतु सत्ता के समवाय से सत्स्वरूप कहा जाता है। (जैन) इस तरह सब ही धर्मों को यदि आप ईश्वर से सर्वथा भिन्न मानोगे, तो ईश्वर का कोई भी निज स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकेगा, और

स्वरूप सिद्ध न होने से ईश्वर की किसी भी पदार्थ में गणना न हो सकेगी । इसलिये सत वा असत, कोई भी स्वरूप ईश्वर का आप को अवश्य मानना पड़ेगा ।

स्वरूपेणासतः सत्वसमवाये च खांबुजे ।
स स्यात् किं न विशेषस्याभावात्तस्य ततोंजसा ॥६९॥
स्वरूपेण सतः सत्वसमवायेऽपि सर्वदा ।
सामान्यादौ भवेत्सत्वसमवायोऽविशेषतः ॥ ७० ॥

और इन दोनों स्वभावों में से यदि आप ईश्वर को असत् स्वरूप मान कर उस में सत्ता का समवाय मानोगे, तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि जिस प्रकार ईश्वर असत्स्वरूप है, उस ही प्रकार आकाश के फूल वग़ैरह भी असत्स्वरूप हैं, फिर ईश्वर में सत्व धर्म का समवाय संबंध मानने और आकाश के फूल वग़ैरह में न मानने का क्या कारण है ? और यदि ईश्वर को स्वरूप से सत् मान कर भी उस में सत्व का समवाय मानोगे तो, हम पूछेंगे कि जब आपने ईश्वर को स्वरूप से ही सत् मान लिया है फिर उसमें निष्प्रयोजन सत्व का समवाय सम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है, और स्वरूप से सत ईश्वर में भी यदि सत्व का समवाय मानते हो, तो स्वरूप से सत् सामान्य वग़ैरह में सत्व का समवाय क्यों नहीं मानते ।

इस प्रकार ईश्वर से सत्वादिक धर्मों को सर्वथा भिन्न और उसका कुछ भी निज स्वरूप न मानने में कोई भी व्यवस्था नहीं बैठती, इस लिये—

स्वतःसतो यथा सत्वसमवायस्तथास्तु सः ।
द्रव्यत्वात्मत्वबोद्धृत्वसमवायोऽपि तत्त्वतः ॥७१॥
द्रव्यस्यैवात्मनो बोद्धुः स्वयं सिद्धस्य सर्वदा ।
नहि स्वतोऽतथाभूतस्तथात्वसमवायभाक् ॥७२॥

ईश्वर को स्वरूप से भी सत, द्रव्य, आत्मा व ज्ञाता मानना चाहिये और ईश्वर में, ईश्वर से कथंचित् अभिन्न सत्वादिक धर्म भी मानने चाहिये, फिर इन धर्मों का ईश्वर के साथ सम्बन्ध मानने में कोई भी प्रश्न नहीं उठ सकता, चाहे उस सम्बन्ध का नाम आप समवाय ही रखलें, चाहे हमारे कहे हुए तादात्म्य शब्द से उस सम्बन्ध का व्यवहार करें, हमको कोई उसमें बिवाद नहीं है ।

स्वयं ज्ञत्वे च सिद्धेऽस्य महेशस्य निरर्थकं ।
ज्ञानस्य समवायेन ज्ञत्वस्य परिकल्पनम् ॥७३॥
तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानतादात्म्यमृच्छतः ।
कथञ्चिदीश्वरस्याऽस्ति जिनेशत्वमसंशयम् ॥७४॥

और जब अन्य धर्मों की तरह जानना भी ईश्वर का निज स्वरूप सिद्ध हो चुका तब ईश्वर को ज्ञान के समवाय से ज्ञाता मानना भी निरर्थक ही है। इसके अतिरिक्त यह बात और भी है कि जब आपने स्व और पर को जानने वाले ज्ञान का ईश्वर के साथ तादात्म्य सम्बंध मान लिया, तब आपके माने हुए ईश्वर, और हमारे माने हुए जिनेश्वर में कोई भी भेद नहीं रहता। अर्थात् जब जिनेन्द्र देव के समस्त गुण आपने ईश्वर में भी मान लिये तब हमारा वही पहिले का कहना सिद्ध होगया कि—

स एव मोक्षमार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठते।
सदेहः सर्वविन्नष्टमोहो धर्मविशेषभाक् ॥ ७५ ॥
ज्ञानादन्यस्तु निर्देहः सदेहो वा न युज्यते।
शिवः कर्त्तोपदेशस्य सोऽभेत्ता कर्मभूभृताम् ॥७६॥

वीतराग, सर्वज्ञ, शरीरधारी, व तीर्थंकरत्व नामक पुण्यातिशय वाले अर्हंत देव ही वास्तव में मोक्ष का उपाय बता सकते हैं या उपदेश दे सकते हैं। और ज्ञान से सर्वथा भिन्न, तथा कर्मों का नाश न करने वाले शिव, ईश्वर, या महेश्वर आदिक चाहे शरीर रहित हों, या शरीर सहित, कदापि मोक्ष मार्ग का उपदेश नहीं दे सकते।

एतेनैव प्रतिव्यूढः कपिलोऽप्युपदेशकः।
ज्ञानादर्थान्तरत्वस्याऽविशेषात्सर्वथा स्वतः ॥७७॥
ज्ञानसंसर्गतोज्ञत्वमज्ञस्यापि न तत्त्वतः।
व्योमवच्चेतनस्यापि नोपपद्येत मुक्तवत् ॥७८॥

जिस प्रकार वैशेषिक, ईश्वर को मोक्ष मार्ग का उपदेशक मानते हैं उसी प्रकार सांख्य मत वाले कपिल को मानते हैं, परन्तु ज्ञान से सर्वथा भिन्न होने के कारण जैसे ईश्वर मोक्ष मार्ग का उपदेशक सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार कपिल को भी सांख्यमतानुयायी ज्ञान से सर्वथा भिन्न मानते हैं, इस लिये वह भी मोक्ष मार्ग का उपदेशक नहीं बन सकता। और यदि स्वयं अज्ञानी कपिल को प्रकृति के धर्मरूप ज्ञान के संबंध से सर्वज्ञ मान भी लिया जाय तो भी उसमें वास्तविक सर्वज्ञपना नहीं आसकता, क्योंकि दूसरे के निमित्त से कपिल में यदि सर्वज्ञपना माना जायगा तो फिर आकाश वगैरह जड़ पदार्थों में भी ज्ञान के संबंध से सर्वज्ञपना मानना पड़ेगा, और आकाशादिक भी मोक्ष मार्ग के उपदेशक हो जावेंगे। और यदि यह कहो कि कपिल स्वयं चेतन है, इस लिये वह मोक्ष मार्ग का उपदेशक हो सकता है, तो हम पूछते हैं कि अन्य मुक्त जीव भी स्वयं चेतन है, वे मोक्ष मार्ग के उपदेशक क्यों नहीं होते। (सांख्य)

मुक्तजीवों के साथ प्रकृति का संबंध नहीं रहता, और कपिल आदिक के साथ रहता है, इसलिये मुक्त जीव ज्ञानी भी नहीं होते, और मोक्ष का उपदेश भी नहीं दे सकते। कपिल आदिक, प्रधान के संबंध होने के कारण ज्ञानी भी होते हैं, और मोक्ष का उपदेश भी देसकते हैं। (जैन) जब प्रकृति आपके मत में सर्वथा नित्य पदार्थ है, तब उसका किसी से संबंध और किसी से असंबंध ही नहीं वन सकता, कदाचित् ऐसा मानोगे भी तो प्रकृति के आप को दो भेद मानने पड़ेंगे। (सांख्य) प्रकृति में संबंध व असंबंध की अपेक्षा जो यह भेद मालूम होता है वह सब काल्पनिक है, और कल्पना सब मिथ्या हुआ करती है, इस लिये वास्तव में प्रकृति एक ही नित्य पदार्थ है। (जैन) यदि प्रकृति में उपर्युक्त भेद काल्पनिक है, तो हम पूछते हैं कि पुरुष में मुक्त और संसारी ये भेद भी काल्पनिक क्यो नहीं। (सांख्य) हम पुरुष के संसारी और मुक्त भेदों को भी काल्पनिक मानते ही हैं, क्योंकि मुक्त और संसारी ये भेद भी प्रकृति के ही होते हैं और ज्ञान भी प्रकृति का ही धर्म है।

प्रधानं ज्ञत्वतो मोक्षमार्गस्याऽस्तूपदेशकं ।
तस्यैव विश्ववेदित्वाद्भेतृत्वात्कर्मभूभृतां ॥७९॥

इत्यसंभाव्यमेवास्याऽचेतनत्वात्पटादिवत् ।

तदसंभवतो नूनमन्यथा निष्फलः पुमान् ॥८०॥
भोक्तात्मा चेत् स एवास्तु कर्त्ता तदविरोधतः।
विरोधे तु तयोर्भोक्तुः स्याद्भुजौ कर्तृता कथं ॥८१॥
प्रधानं मोक्षमार्गस्य प्रणेतृ स्तूयते पुमान्।
मुमुक्षुभिरिति ब्रूयात्कोऽन्योऽकिंचित्करात्मनः ॥८२॥

तथा ज्ञानयुक्त होने से मोक्ष का उपदेश भी प्रकृति ही देती है, और सर्वज्ञपनाभी प्रकृतिका ही धर्म है, रजोगुण व तमोगुण से उत्पन्न होने वाले कर्मों का नाश भी प्रकृति ही करती है, (जैन) जब प्रकृति अचेतन पदार्थ है तब उसमें सर्वज्ञपना व उसके द्वारा कर्मों का नाश होना कैसे सिद्ध हो सकता है, और यदि विवेकज्ञान न होने से संसारीपना व विवेकज्ञानी होने से जीवनमुक्तपना, आपको प्रकृति का ही धर्म मानना है तो फिर निरर्थक पुरुष के मानने की क्या आवश्यकता है। (सांख्य) यद्यपि ये सव कार्य प्रकृति के हैं और वह प्रत्येक कार्य के करने वाली है, तो भी प्रकृति के इन सब कार्यों का भोग करने वाले पुरुष के विना माने कार्य नहीं चल सकता, (जैन) जब पुरुष को आपने भोक्ता मान लिया तब प्रत्येक कार्य को करने वाला भी आपको पुरुष ही मानना पड़ेगा, क्योंकि जब भोग के करने वाले

को ही भोक्ता कहते हैं, तब आप पुरुष को भोक्ता मानें, और कर्त्ता न मानें यह कदापि नहीं हो सकता। इस के अतिरिक्त जब आपने मोक्ष मार्ग का उपदेशक भी प्रकृति को ही मान लिया, फिर भी मोक्ष की सिद्धि के लिये आप के मत मे कपिल आदिक पुरुषों की ही उपासना की जाती है, यह आप की बुद्धि की बलिहारी है कि लाभ पहुंचे प्रकृति से और पूजा जाय पुरुष। अथवा मोक्षादिक हों प्रकृति को और मोक्ष की इच्छा करे पुरुष। [बौद्ध] यदि सांख्यमत के अनुसार कपिल, मोक्षमार्ग का उपदेशक नहीं बनता है तो न वनने दीजिये, परन्तु बुद्धभगवान को तो मोक्ष-मार्ग का उपदेशक मानने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि बुद्धभगवान शरीरधारी भी थे और सर्वज्ञ भी थे, तथा जगत के हित के लिये ही उनका जन्म हुआ था, जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है "वुद्धो भवेयं जगते हिताय" (जैन) यह सब कुछ तो ठीक है परन्तु जब आपका यह सिद्धान्त है कि "नाकारणं विषय:" अर्थात् जो पदार्थ जिस ज्ञान का कारण नहीं, वह पदार्थ उस ज्ञान से जाना भी नहीं जा सकता, अथवा वह ज्ञान उस पदार्थ को जान ही नहीं सकता, तब आपके मत में कोई सर्वज्ञ वास्तव में सिद्ध हो ही नहीं सकता; क्योंकि जो पदार्थ

अभी उत्पन्न ही नहीं हुए वे तो बुद्धभगवान के ज्ञान में कारण हो ही नहीं सकते, और कारण न होने से बुद्ध-भगवान उनको जान नहीं सकते और जब बुद्ध भगवान उन पदार्थों को नहीं जान सके, तब उनको सर्वज्ञ कौन कह सकता है ।

सुगतोऽपि न निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः ।
विश्वतत्त्वज्ञतापायात्तत्त्वतःकपिलादिवत्॥ ८३ ॥

और जब बुद्ध भगवान में वास्तविक सर्वज्ञपना ही सिद्ध नहीं हुआ, तब वे भी कपिल आदिक की तरह कदापि मोक्षमार्ग के उपदेशक नहीं हो सकते ।

संवृत्या विश्वतत्त्वज्ञः श्रेयोमार्गोपदेश्यपि ।
बुद्धो वन्द्यो न तु स्वप्नस्तादृगित्यज्ञचेष्टितं ॥८४॥

बुद्ध देव को कल्पनामात्र से सर्वज्ञ और मोक्षमार्गोपदेशक मान कर पूज्य मानोगे तो ये सब काल्पनिक बातें स्वप्न ज्ञान में भी मालूम देती हैं, इसलिये स्वप्न ज्ञान वाले को भी पूज्य मानना पड़ेगा । इस के अतिरिक्त—

यत्तु संवेदनाद्वैतं, पुरुषाद्वैतवन्न तत् ।
सिद्धयेत्स्वतोऽन्यतो वापि प्रमाणात्स्वेष्टहानितः ॥८५

बौद्धमतानुयायी योगाचार संप्रदाय वाले जो यह मानते हैं कि इस जगत में सिवा क्षणिक ज्ञान के और कोई भी पदार्थ नहीं है, यह जो कुछ भी चराचर जगत दिखाई देता है वह सब ज्ञान स्वरूप ही है, यह उन का मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह "ज्ञानाद्वैत" बिना किसी प्रमाण के यदि स्वयं ही मान लिया जाय तो हम कहते हैं कि इसी प्रकार स्वयं ही वेदान्तियों का माना हुआ पुरुषाद्वैत या ब्रह्माद्वैत भी क्यों न मान लिया जाय। और यदि किसी हेतु वग़ैरह से ज्ञानाद्वैत की सिद्धि की जायगी तो फिर ज्ञानाद्वैत के स्थान में हेतु साध्य वग़ैरह अनेक पदार्थ सिद्ध हो जायँगे, जिस से कि स्वयं ही उनका माना हुआ ज्ञानाद्वैतपना खंडित हो जायगा। इसलिये न बौद्धों का माना हुआ ज्ञानाद्वैत सिद्ध होता है, और न वेदान्तियों का माना हुआ पुरुषाद्वैत ही। इस प्रकार नैयायिक, सांख्य, बौद्ध, व वेदान्ती आदि किसी भी एकान्त वादी का माना हुआ आप्त (परमेश्वर) युक्तिसिद्ध नहीं होता। और—

सोऽर्हन्नेव मुनीन्द्राणां वन्द्यः समवतिष्ठते ।
तत्सद्भावे प्रमाणस्य निर्बाधस्य विनिश्चयात् ॥८६॥

जैनियों के माने हुए अर्हंत देव का साधक निम्न-लिखित अनुमान प्रमाण मौजूद है इसलिये बड़े २

मुनीश्वरों से वंदनीक अर्हंत देव ही वास्तव में पूज्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकार जब नैयायिकों के माने हुए ईश्वर में, सांख्य के माने हुए कपिल में, बौद्धों के माने हुए सुगत में, व वेदान्तियों के माने हुए ब्रह्म में, सर्वज्ञपना सिद्ध नहीं हुआ, तब ये सब ईश्वर कपिल आदिक मोक्ष-मार्ग का उपदेश भी नहीं दे सकते; क्योंकि मोक्ष का उपदेश वही दे सकता है, जिस पुरुष में मिथ्या उपदेश के कारण, अज्ञान व कषाय, न हों अर्थात् जो सर्वज्ञ और वीतराग हो, ईश्वर कपिल आदिक में प्रमाण से सर्वज्ञपना व वीतरागपना सिद्ध नहीं होता, इसलिये वे मोक्ष का उपदेश भी नहीं दे सकते, और जो सर्वज्ञ व वीतरागी है वह मुनीश्वरों से भी वंदनीक जैनियों का माना हुआ अर्हंत देव ही वास्तव में मोक्षमार्ग का उपदेशक ठहरता है, क्योंकि मोक्षमार्ग का सच्चा उपदेश विना सर्वज्ञपने व वीतरागपने के नहीं हो सकता और अर्हंतदेव में सर्वज्ञपना व वीतरागपना अबाध्य प्रमाण से सिद्ध होता है। इन दोनों गुणों में सर्वज्ञपना (तीनों काल के समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानना) तो इस प्रकार सिद्ध होता है कि—

ततोऽन्तरिततत्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽञ्जसा।
प्रमेयत्वाद्यथाऽस्मादृक्प्रत्यक्षार्थाः सुनिश्चिताः ॥८७॥

संसारभर के जितने पदार्थ हैं उन सब का अस्तित्व (मौजूदगी) तब ही सिद्ध हो सकता है जब कि वे किसी न किसी के ज्ञान से जाने जा सकते हों, क्योंकि जिस पदार्थ को संसार में कोई भी नहीं जानता उस पदार्थ का होना ही असंभव है। पदार्थों में जो ज्ञान के विषय होने का गुण है उस गुण को प्रमेयत्व कहते हैं। इस प्रमेयत्व गुण के कारण संसारभर के सम्पूर्ण पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान से अवश्य ही जाने जाते हैं, जैसे अग्नि, धूप के द्वारा किसी पुरुष से जानी जाती है, इस लिये उसमें प्रमेयत्व भी है और उसका प्रत्यक्ष भी होता है। और जो इन सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता है वही सर्वज्ञ कहलाता है, उसी को जैन लोग अर्हंत कहते हैं, (मीमांसक) जैनियों का जो यहां पर यह कहना है कि प्रमेयत्वगुण की वजह से समस्त पदार्थ अर्हंत देव के प्रत्यक्ष ज्ञान से जाने जाते हैं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रमेयत्व गुण तो दूर देश में स्थित सुमेरु पर्वतादिक में तथा सूक्ष्म परमाणु आदिक में भी रहता है परन्तु सुमेरु पर्वतादिक दूरस्थित पदार्थों को व परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थों को जब हम लोग भी प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं जान सकते तब आपके माने हुए अर्हंत देव, परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान से कैसे जान सकते हैं। (जैन)

हेतोर्न व्यभिचारोऽत्र दूरार्थैर्मन्दरादिभिः ।
सूक्ष्मैर्वापरमाण्वाद्यैस्तेषां पक्षीकृतत्वतः ॥८८॥

यह कोई नियम नहीं है कि जिस पदार्थ को हम प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं जानते, उस को कोई भी पुरुष प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं जान सकता; क्योंकि बहुत से सूक्ष्म पदार्थ संसार में ऐसे हैं जो कि दुरबीन आदि के द्वारा किसी पुरुष से जाने जा सकते हैं, बहुत से दूरस्थित पदार्थों को हम तुम नहीं जान सकते किन्तु गृद्ध वग़ैरह पक्षी जान सकते हैं, इसलिये यह बात निःसन्देह माननी चाहिये कि जिन पदार्थों को हम नहीं जान सकते, उन पदार्थों को भी, कोई न कोई पुरुष, प्रत्यक्षप्रमाण से अवश्य जान सकता है। दूसरी बात यह है कि जब दूरदेशस्थित सुमेरु आदि और सूक्ष्म परमाणु वग़ैरह पदार्थों में ही हमको प्रमेयत्व हेतु से प्रत्यक्ष ज्ञानका विषयपना सिद्ध करना है तब उन्हीं पदार्थों को लेकर व्यभिचार दोष कसे आ सकता है। यदि पक्ष में ही दोष आने लगेगा तो फिर संसार में कोई भी पदार्थ अनुमान से सिद्ध नहीं होगा। उक्त बात को ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि—

तत्त्वान्यन्तरतानीह देशकालस्वभावतः ।
धर्मादीनि हि साध्यन्ते प्रत्यक्षाणि जिनेशिनः ।८९

ऊपर कहे हुए प्रमेयत्व हेतु से देशान्तरित सुमेरु पर्वत वगैरह, कालान्तरित राम रावण वगैरह, स्वाभावान्तरित परमाणु वगैरह पदार्थों में ही अर्हंत देव के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषयपना सिद्ध किया जाता है ।

नचाऽस्मादृक्समक्षाणामेवमर्हत्समक्षता ।
न सिद्ध्येदिति मन्तव्यमविवादाद्द्वयोरपि ॥९०॥

(मीमांसक) जब कि संसार में जितने प्रत्यक्ष ज्ञान हैं वे सब इन्द्रियों से ही उत्पन्न होते हैं और इन्द्रिय जन्य कोई भी प्रत्यक्ष ज्ञान परमाणु वगैरह सूक्ष्म पदार्थों को नहीं जान सकता, तब आप किस प्रकार से सूक्ष्म पदार्थों को अर्हंत देव के प्रत्यक्ष का विषय मानते हो ।

(जैन) आपने यह कैसे जान लिया कि कुल प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों से ही उत्पन्न होते हैं, और तीन लोक व तीनों काल के जितने पुरुष हैं उनमें कोई भी अतीन्द्रिय-ज्ञान वाला नहीं है; क्योंकि जब आप भूत काल व भविष्य काल के तथा दूरदेश के समस्त पुरुषों को भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं जान सकते, तब भूतकाल व भविष्यकाल के पुरुषों को इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष यह कैसे जान सकते हो । दूसरे यह बात है कि जब ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थ है, तब आप वर्त्तमान व सन्मुख पुरुष के ज्ञान की बाबत भी यह निश्चय नहीं कर सकते कि

उसको किस समय कौन सा ज्ञान होता है, फिर भूत व भविष्यत के पुरुषों के ज्ञान की बाबत तो कहना ही क्या है । तीसरे यह बात है कि यदि आपको तीनों काल के समस्त पुरुषों के प्रत्यक्ष ज्ञानों की जानकारी है, अर्थात् यदि आप प्रत्यक्ष ज्ञान से यह जानते हैं कि कोई भी पुरुष प्रत्यक्ष ज्ञान से समस्त पदार्थों को नहीं जानता, तो आपका यह ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, और ज्ञान आपको समस्त पुरुषों के ज्ञान का है ही, इस लिये आपको अपना वह प्रत्यक्ष ज्ञान, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ही मानना पड़ेगा, और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मानने से आप स्वयं ही जब सर्वज्ञ ठहर जायँगे, तब आपका, सर्वज्ञ का निषेध करना, कदापि युक्तिसंगत नहीं हो सकता, इसलिये आपको भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष व अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष दोनों ही मानने चाहिये ।

(मीमांसक) जब कि समस्त पदार्थों में प्रमेयत्व हेतु ही नहीं रहता, तब प्रेमयत्व हेतु से समस्त पदार्थों में प्रत्यक्ष ज्ञान का विषयपना आप कैसे सिद्ध कर सकते हो । (जैन)

न चासिद्धं प्रमेयत्वं कात्स्न्र्यतो भागतोऽपि वा ।
सर्वथाप्यप्रमेयस्य पदार्थस्याव्यवस्थितेः ॥९१॥
यदिषड्भिः प्रमाणैःस्यात्सर्वज्ञः केन वार्यते ।

इति ब्रुवन्नशेषार्थप्रमेयत्वमिहेच्छति ॥ ९२ ॥
चोदनातश्चनिःशेषपदार्थज्ञानसम्भवे ।
सिद्धमन्तरितार्थानां प्रमेयत्वं समक्षवत् ॥ ९३ ॥

ऐसा संसार में कोई भी पदार्थ नहीं है जो कि प्रमेय अर्थात् किसी न किसी के ज्ञान का विषय न हो क्योंकि मीमांसक स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति व अभाव इन छहों प्रमाणों से सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान होने का हम निषेध नहीं करते, केवल अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान होने का निषेध करते हैं। जब मीमांसकों ने सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान मान लिया और ज्ञान के विषय को ही प्रमेय कहते हैं तब मीमांसकों के कहने से ही सम्पूर्ण पदार्थों में प्रमेयत्व हेतु सिद्ध हो जाता है। दूसरे वेद-वाक्य से भी मीमांसक समस्त सूक्ष्म व स्थूल पदार्थों का ज्ञान मानते हैं, इसलिये समस्त पदार्थों में वैदिक ज्ञान से भी घट पट आदिक प्रत्यक्ष पदार्थों की तरह प्रमेयत्व हेतु सिद्ध हो जाता है, और जब समस्त पदार्थों में प्रमेयत्व हेतु सिद्ध हो गया, तब मीमांसक का यह कहना उनके बचन से ही बाधित हो जाता है कि "समस्त पदार्थों में प्रमेयत्व हेतु नहीं रहता"।

(मीमांसक) जिस हेतु के साथ साध्य के अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों सिद्ध हो जाते हैं वही हेतु प्रायः ठीक समझा जाता है परन्तु सर्वज्ञता के साधक आप के कहे हुए प्रमेयत्व हेतु का केवल अन्वय ही मिलता है, व्यतिरेक नहीं मिलता, इस लिये जैनियों का कहा हुआ प्रमेयत्व हेतु सिद्ध नहीं होता । (जैन)

यन्नार्हतः समक्षं तन्न प्रमेयं वहिर्गतः ।
मिथ्यैकान्तो यथेत्येवं व्यतिरेकोऽपि निश्चितः ॥९४॥

संसार में जितने पदार्थ हैं उन सब में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिस में कि अनेक धर्म न रहते हों । संसार के सम्पूर्ण ही पदार्थों में एक काल में अनेक धर्म रहते हैं । अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का अनादि काल से अनंतकाल तक कभी भी अभाव नहीं होता, जो पदार्थ संसारमें है वह हमेशा से है, और जो नहीं है वह कभी भी नहीं है, इसलिये पदार्थ में एक आस्तित्व (मौजूदगी) नामका गुण माना जाता है । प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण नियम से अपनी अवस्थाओं को बदलती रहती है इसलिये पदार्थ में द्रव्यत्व गुण माना जाता है । प्रत्येक पदार्थ अवस्थाओं के वदलते रहने पर भी विजातीय पदार्थ रूप–जैसे कि जीव पुद्गल रूप–नहीं होता, इसलिये वस्तु में अगुरुलघुत्व गुण माना जाता है । इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में बहुत से धर्म या

गुण पाये जाते हैं । जबकि प्रत्येक पदार्थ में बहुत से धर्म पाये जाते हैं तब हम ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति कर सकते हैं अर्थात् ऐसा नियम बना सकते हैं कि जो पदार्थ अर्हंत-देव के, प्रत्यक्ष ज्ञान के, विषय नहीं हैं वे पदार्थ प्रमेय भी नहीं हो सकते, जैसे कि वस्तु में अनेक धर्म होते हुए भी नित्यपना, अनित्यपना आदि किसी एक ही धर्म का स्वीकार करना । यद्यपि वस्तु में नित्यपना, अनित्यपना आदि बहुत से धर्म रहते हैं, तो भी सर्व धर्मों को न मानकर वस्तु में केवल यदि कोई एक ही धर्म माना जाय तो वह वस्तु भी वास्तविक नहीं कहला सकती, इसलिये केवल एक धर्मवाला पदार्थ संसार में कोई है ही नहीं, जो कि अर्हंत देव के प्रत्यक्ष का विषय हो । और जब इस प्रकार व्यतिरेक भी बन गया तब हम यह कह सकते हैं कि—

सुनिश्चितान्वयाद्धेतोःप्रसिद्धव्यतिरेकतः ।
ज्ञाताऽर्हन् विश्वतत्त्वानामेवं सिध्येदबाधितः ॥९५॥

प्रमेयत्व हेतु का, और अर्हंतदेव के प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय-भूत पदार्थों का, परस्पर में निश्चित रूप से अन्वय व व्यति-रेक बन जाने के कारण, अर्हंतदेव समस्त पदार्थों को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण से जानने वाले सिद्ध हो जाते हैं, और इनके मानने में कोई बाधा भी नहीं आसकती।

(मीमांसक) जब कि आपके माने हुए अर्हतदेव में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति व आगम किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञपना सिद्ध नहीं होता, बल्कि ये सब प्रमाण सर्वज्ञ के बाधक ही ठहरते हैं तब अर्हत देव में सर्वज्ञपने का अभाव ही मानना चाहिये, (जैन)

प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दत्त्रिकालं भुवनत्रयम् ।
रहितं विश्वतत्त्वज्ञैर्नहि तद्बाधकं भवेत् ॥९६॥

हम मीमांसक से पहिले प्रत्यक्षज्ञान के विषय में पूछते हैं कि इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ का निषेध करते हो या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ? यदि इन्द्रिय जन्यप्रत्यक्ष से सर्वज्ञ का निषेध करते हो तो भी नहीं बन सकता; क्योंकि इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष में इतनी शक्ति ही नहीं है कि, वह यह जान सकै, कि तीन लोक व तीनों कालों में कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं है । और यदि इतनी शक्ति मान भी लीजाय तो भी सर्वज्ञ का निषेध नहीं हो सकता; क्योंकि जो पुरुष इन्द्रियजन्य ज्ञान से तीन लोक व तीन काल की व्यक्तियों को जान कर सर्वज्ञ का निषेध करता है वह स्वयं ही सर्वज्ञ ठहर जाता है । इस लिये इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष-प्रमाण तो सर्वज्ञ का बाधक हो नहीं सकता, रहा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष. वह उलटा बाधक की जगह सर्वज्ञ का साधक ही होता है, इस लिये इन्द्रिय

प्रत्यक्ष व अतीन्द्रियप्रत्यक्ष तो सर्वज्ञ के बाधक हो नहीं सकते।

(मीमांसक) यदि प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ का बाधक नहीं है तो न सही किन्तु अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, और आगम प्रमाण से तो सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो जाता है। (जैन)

नानुमानोपमानार्थापत्त्यागमबलादपि
विश्वज्ञाभावसंसिद्धिस्तेषां सद्विषयत्वतः॥ ९७ ॥

आपके कहे हुए अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, व आगम प्रमाण भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते; क्योंकि ये चारों प्रमाण किसी वस्तु के अभाव को विषय न करके सद्भाव को ही विषय करते हैं।

(मीमांसक) आपका यह कहना ठीक नहीं है, कि अनुमानादि प्रमाण वस्तु के अभाव को विषय नहीं करते, क्यों कि हम—

नार्हन्निःशेषतत्त्वज्ञो वक्तृत्वपुरुषत्वतः।
ब्रह्मादिवदिति प्रोक्तमनुमानं न बाधकम् ॥९८॥

वक्तृत्व (वक्तापना) व पुरुषत्व (पुरुषपना) इन दोनों हेतुओं से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध कर सकते हैं, और कह सकते हैं, कि जैनियों के माने हुए अर्हंतदेव कदापि सर्वज्ञ नहीं हो सकते; क्योंकि जैसे हम मनुष्य हैं और बोलते चालते व व्याख्यान देते हैं उसी प्रकार

आपके अर्हतदेव भी मनुष्य हैं और बोलते चालते व व्याख्यान देते हैं, फिर उनमें ही अन्य सब से विलक्षण सर्वज्ञपनेका अतिशय कैसे हो सकता है । (जैन)

हेतोरस्य विपक्षेण विरोधाभावनिश्चयात् ।
वक्तृत्वादेः प्रकर्षेऽपि ज्ञानानिर्ह्रासासिद्धितः ॥९९॥

मीमांसक के कहे हुए वक्तृत्व व पुरुषत्व हेतु भी सर्वज्ञ के बाधक नहीं हो सकते; क्योंकि बाधक वे ही हुआ करते हैं, जिनका कि परस्पर में विरोध हो, और विरोध उन्हीं दोनों का हुआ करता है जिनमें कि एक के उत्कर्ष से दूसरे का अपकर्ष होता हो, और बचनशक्ति के उत्कर्ष होने पर सर्वज्ञपने का अपकर्ष होता नहीं, इसलिये इन दोनों में परस्पर विरोध भी नहीं होता, विरोध न होने से बचन शक्ति सर्वज्ञपने की बाधक नहीं हो सकती, बाधक न होने से बचनशक्ति के द्वारा सर्वज्ञपने का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता । इसी प्रकार मीमांसक का उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि-

नोपमानमशेषाणां नृणामनुपलम्भतः ।
उपमानोपमेयानां तद्बाधकमसम्भवात् ॥१००॥

समान धर्म वाली दो वस्तुओं में सिद्धक वस्तु को जान कर, दूसरी वस्तु में अपने वस्तु की सदृशता के जानने को,

उपमान प्रमाण कहते हैं, जैसे कि मुख को देखकर "यह मुख चन्द्रमा के समान है" इस ज्ञान में उपमानभूत चन्द्र पदार्थ की सदृशता का ज्ञान उपमेयभूत मुख पदार्थ में होता है । इसी प्रकार जब मीमांसक तीन काल के समस्त पुरुषों को असर्वज्ञ समझकर उनकी सदृशता से अर्हंत देव में—या किसी भी पुरुष विशेष में—सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध करना चाहते हैं, तो मीमांसकों को उपमानभूत तीन कालके समस्त पुरुषों का व उपमेयस्वरूप अर्हंत देव आदि का प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा । और जब समस्त पुरुषों का प्रत्यक्ष मान लिया, तब सर्वज्ञ के निषेध के स्थान में, सर्वज्ञ की सिद्धि ही हो जायगी । और यदि उपमान व उपमेयरूप समस्त पुरुषों का ज्ञान न मानोगे तो आपका उपमान प्रमाण यहां पर नहीं घटेगा, और जब उपमान प्रमाण ही यहां पर सिद्ध नहीं हो सका, फिर उसको बाधक बताना असंभव है । और—

नार्थापत्तिरसर्वज्ञं जगत्साधयितुं क्षमा ।
क्षीणत्वादन्यथाभावाभावात्तत्तद्बाधिका ॥१०१॥

अर्थापत्ति प्रमाण भी सर्वज्ञ का बाधक, या सर्वज्ञाभाव का साधक, तब ही बन सकता है, जब कि सर्वज्ञ के मानने में, अथवा सर्वज्ञाभाव के न मानने में, कोई संसार में आपत्ति आती हो । जैसे कि किसी ने कहा कि "देवदत्त खूब मोटा

ताज़ा होने पर भी दिन में भोजन नहीं करता" यहां पर अर्थापत्ति प्रमाण से यह समझ लिया जाता है, कि जब देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता और स्थूलपना उसमें है ही, तब वह रात्रि में अवश्य भोजन करता है। अर्थात् विना रात्रि के भोजन किये देवदत्त में जिस प्रकार स्थूलपने की आपत्ति आती है, उस प्रकार संसार में सर्वज्ञ का अभाव विना माने कोई आपत्ति नहीं आती, (मीमांसक) सर्वज्ञ के दिये हुए धर्मोपदेश की, जो संसार में असम्भवता है, वह असम्भवता, सर्वज्ञ के मानने पर नहीं बन सकती, यही सर्वज्ञ के मानने में आपत्ति है, (जैन) आपने संसार में, सर्वज्ञ द्वारा दिये हुए धर्मोपदेश की असम्भवता, कैसे जान ली।

(मीमांसक) अपौरुषेय वेदके द्वारा ही जब धर्मोपदेश सिद्ध हो जाता है, तब सर्वज्ञ द्वारा धर्मोपदेश का होना कैसे संभव हो सकता है।

(जैन) आपने जो अपौरुषेय (जिसका कोई बनाने वाला न हो) वेद को धर्म का उपदेशक माना है उस में यह प्रश्न उठता है कि आपके कहे हुए वेद का व्याख्यान करने वाला सर्वज्ञ है या असर्वज्ञ? यदि सर्वज्ञ, है तो सर्वज्ञ के उपदेश की असम्भवता नहीं हो सकती। यदि असर्वज्ञ है, तो वेद का वह असर्वज्ञ पुरुष उल्टा अर्थ भी समझा सकता है, फिर वेद में प्रमाणता नहीं आ सकती। और

यदि आगम प्रमाण को सर्वज्ञ के अभाव का साधक मानोगे तो भी यह प्रश्न उठे विना न रहेगा कि—

नागमोऽपौरुषेयोऽस्ति सर्वज्ञाभावसाधनः।
तस्य कार्ये प्रमाणत्वादन्यथाऽनिष्टसिद्धितः ॥१०२॥
पौरुषेयोऽप्यसर्वज्ञप्रणीतो नास्य बाधकः।
तत्र तस्याप्रमाणत्वाद्धर्मादाविव तत्त्वतः ॥१०३॥

अपौरुषेय आगम को आप सर्वज्ञ का बाधक मानते हो, या पौरुषेय (जो किसी पुरुषका किया हुआ हो) आगम को? अपौरुषेय आगम (जो कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के नामसे प्रसिद्ध है) को तो सर्वज्ञ का बाधक मान नहीं सकते; क्योंकि मीमांसक लोग स्वयं ही यह मानते हैं कि वेदों में जितनी श्रुतियां हैं, वे सब क्रियाकाण्ड (पूजन पाठ आदि) को ही सिद्ध करती हैं। उन श्रुतियों से सर्वज्ञ का सद्भाव अथवा अभाव सिद्ध नहीं होता। और यदि अपौरुषेय आगम से कदाचित् मीमांसक लोग सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करेंगे भी, तो उनके बचन से ही उनके उक्त सिद्धान्त का खण्डन हो जायगा। पौरुषेय आगम से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने में भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस पुरुष का बनाया हुआ वह आगम है, वह पुरुष सर्वज्ञ है या असर्वज्ञ? यदि सर्वज्ञ

है, तो उसका कहा हुआ आगम (शास्त्र) सर्वज्ञ का बाधक न होकर उल्टा साधक ही हो जायगा । और यदि उस आगम का कर्त्ता असर्वज्ञ है तो उसके कहे हुए आगम में प्रमाणपना ही नहीं आ सकता, और जब उस आगम में स्वयं ही प्रमाणपना नहीं रहा, तब वह आगम अतीन्द्रिय धर्मादिक पदार्थों की तरह सर्वज्ञ के अभाव को भी वास्तव में सिद्ध नहीं कर सकता । रहा अभाव प्रमाण, वह भी सर्वज्ञ का बाधक वास्तव में तब ही हो सकता है, जब कि--

अभावोऽपि प्रमाणं ते निषेध्याधारवेदने ।
निषेध्यस्मरणे च स्यान्नास्तिताज्ञानमञ्जसा ॥१०४॥

न चाशेषजगज्ज्ञानं कुतश्चिदुपपद्यते ।
नापि सर्वज्ञसंवित्तिः पूर्वं तत्स्मरणं कुतः ॥१०५॥

येनाशेषजगत्यस्य सर्वज्ञस्य निषेधनम् ।
परोपगमतस्तस्य निषेधे स्वेष्टबाधनम् ॥१०६॥

सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने वाले पुरुष को, निषेध्यभूत (जिसका अभाव सिद्ध किया जाय) सर्वज्ञ के, आधार (आश्रयभूत तीन लोक) का ज्ञान हो, और निषेध्य-स्वरूप सर्वज्ञ का स्मरण हो; क्योंकि कोई भी

पुरुष, कहीं पर भी, किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान, तब ही कर सकता है, जबकि उस पुरुष को, उस वस्तु का ज्ञान हो जाय, जिसका कि उसको अभाव सिद्ध करना है। जैसे कि कोई भी पुरुष घट पट आदिक पदार्थों का अभाव तब ही सिद्ध कर सकता है जब कि उस पुरुष ने घट पट आदिक पदार्थ पहिले देखे हों, और वर्त्तमान में उन पदार्थों की उस पुरुष को यादगारी हो, तथा जिस स्थान में घट पटादिक का अभाव सिद्ध करना है उस स्थान का भी उस पुरुष को ज्ञान हो। क्यों कि घट का अभाव सिद्ध करने वाले पुरुष को यदि घट का ज्ञान नहीं है, तो घट के रहने पर भी वह पुरुष यह नहीं जान सकता कि यहां पर घट है या नहीं। इसी प्रकार सर्वज्ञ का निषेध करने वाले पुरुष को यदि पूर्व में सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं है, तो वह पुरुष कदापि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकता, और जहां पर सर्वज्ञ का निषेध करना है, उस स्थान अर्थात् तीन लोक का भी यदि सर्वज्ञ के निषेध करने वाले पुरुष को ज्ञान नहीं है, तो कदापि वह पुरुष सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकता। और यदि सर्वज्ञ का निषेध करने वाले पुरुष को निषेध करने से पहिले सर्वज्ञ का ज्ञान—और सर्वज्ञके आधारभूत तीन लोक का ज्ञान—माना जायगा तो फिर सर्वज्ञ का निषेध न हो कर उल्टा सर्वज्ञ का सद्भाव ही सिद्ध हो

जायगा । और यदि सर्वज्ञ के निषेध करने से पूर्व तीन लोक का तथा सर्वज्ञ का ज्ञान न माना जायगा, तो सर्वज्ञ को विना जाने निषेध ही किसका होगा, तथा तीनलोक को विना जाने सर्वज्ञ का सर्वत्र निषेध कैसे होगा। (मीमांसक) सर्वज्ञ के निषेध करने में तीन लोक के ज्ञान की, व सर्वज्ञ विषयक ज्ञान की, यदि आवश्यकता है। और हमको तीन लोक का, व सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं भी है, तो न सही, जैन लोगों को जो सर्वज्ञ का व तीन लोक का ज्ञान है उसी ज्ञान से हम सर्वज्ञ का निषेध कर सकते हैं।

(जैन) तीन लोक व सर्वज्ञ विषयक हमारे ज्ञान को आप प्रमाण मानते हो या अप्रमाण ? यदि प्रमाण मानते हो तो उसके द्वारा जाने हुए सर्वज्ञ का आप निषेध नहीं कर सकते, और यदि अप्रमाण मानते हो, तो फिर अप्रमाण ज्ञान के ऊपर विश्वास करके सर्वज्ञ का निषेध करना कार्यकारी नहीं हो सकता।

(मीमांसक) जैनियों का माना हुआ यह नियम—कि प्रत्येक पदार्थ का अभाव सिद्ध करने से पूर्व उस पदार्थ का ज्ञान होना आवश्यक है—उनके सिद्धान्त से ही खंडित होता है; क्योंकि जैन लोग सर्वथा नित्यत्व, सर्वथा अनित्यत्व, आदि एक २ धर्म वाले पदार्थों को मिथ्या कह कर

उन पदार्थों का निषेध तो कर देते हैं, किन्तु जैनियों को नियमित एक २ धर्म वाले पदार्थों का ज्ञान नहीं होता (जैन)

मिथ्यैकान्तनिषेधस्तु युक्तोऽनेकान्तसिद्धितः।
नासर्वज्ञजगत्सिद्धेः सर्वज्ञप्रतिषेधनम् ॥१०७॥

जब कि वस्तु में युक्ति से अस्तित्व[1], वस्तुत्व[2], द्रव्यत्व[3] प्रमेयत्व[4], आदि अनेक धर्म सिद्ध होते हैं, तब पदार्थ में केवल एक धर्म का होना स्वतः ही निषिद्ध हो जाता है।

(मीमांसक) जैसे जैन लोग पदार्थ में अनेक धर्म सिद्ध करके केवल एक धर्म वाले पदार्थ का अभाव सिद्ध कर देते हैं। उसी प्रकार हम भी जगत् में सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करके सर्वज्ञ का निषेध कर सकते हैं।

(जैन) आप संसार में सर्वज्ञ का निषेध तब ही कर सकते हैं, जब कि आपको कुल संसार का तथा उसमें रहने वाले त्रिकालवर्त्ती समस्त पुरुषों का ज्ञान हो जाय। और जब आप को कुल संसार के पुरुषों का ज्ञान हो

१ जिस गुण के निमित्त से वस्तु सदा कायम रहे।

२ जिस शक्तिके निमित्त से पदार्थ के गुण बिखर कर अलग २ न हो जाँय।

३ जिस गुण के कारण पदार्थ में हमेशा परिणमन होता रहे।

४ जिस शक्ति के कारण पदार्थ किसी न किसी के ज्ञान का विषय हो।

गया, तब आप स्वयं ही सर्वज्ञ हो गये, फिर सर्वज्ञ का निषेध कैसे कर सकते हो। और जब आप "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, आगम व अभाव" इन छहों प्रमाणों में से किसी के द्वारा भी अर्हतदेव में सर्वज्ञपने का निषेध नहीं कर सके, और सर्वज्ञ के साधक हमारे माने हुए प्रमेयत्व हेतु में कोई भी दोष नहीं दे सके। तब–

एवं सिद्धः सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकत्वतः।
सुखवद्विश्वतत्त्वज्ञः सोऽर्हन्नेव भवानिह ॥१०८॥

अर्हंत देव की सिद्धि में बाधक प्रमाण की असंभवता निश्चित हो जाने से, अर्थात् अर्हंत देव को सर्वज्ञ मानने में कोई भी बाधक प्रमाण न रहने से, तथा वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध आदिक के माने हुए ईश्वर, कपिल, सुगत आदिक देवों में सर्वज्ञपना न सिद्ध होने से, अनंत सुखादिक गुणों की तरह सर्वज्ञपना भी अर्हतदेव में ही सिद्ध होता है। और–

स कर्मभूभृतां भेत्तातद्विपक्षप्रकर्षतः।
यथा शीतस्य भेत्तेह कश्चिदुष्णप्रकर्षतः ॥११०॥

कर्म रूपी पर्वत के भेदने वाले भीअर्हंत देव ही सिद्ध होते हैं; क्योंकि अर्हतदेव की आत्मा में कर्मों के शत्रुभूत गुणों की वृद्धि हो गई है, और यह संसार का व्या-

पक्ष सिद्धान्त है कि जहां पर जिस के शत्रु की वृद्धि होती है वहां पर उस की नियम से हीनता होती है, जैसे कि किसी पदार्थ में जितनी २ उष्णता की वृद्धि होती जायगी, उतना २ ही वह पदार्थ शीत का नाशक होता जायगा ।

(मीमांसक) यह बात तो हम भी मानते हैं कि शत्रु की वृद्धि से हानि होती है, किन्तु यह तो बताइये कि कर्म किसे कहते हैं, कर्मों के भेद कितने हैं और उनके लक्षण क्या २ हैं, कर्मों के शत्रु कौन हैं, और उनका उत्कर्ष आत्मा में कैसे सिद्ध होता है । जैन—

तेषामागमिनां तावद्विपक्षः संवरो मतः
तपसा सञ्चितानां तु निर्जरा कर्मभूभृताम् ॥११०॥
तत्प्रकर्षः पुनः सिद्धः परमः परमात्मनि ।
तारतम्यविशेषस्य सिद्धेरुष्णप्रकर्षवत् ॥१११॥
कर्माणि द्विविधान्यत्र द्रव्यभावविकल्पतः ।
द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा ॥११२॥
भावकर्माणि चैतन्यविवर्तात्मानि भान्ति नु ।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिच्चिदभेदतः ॥११३॥

जिन के सम्बन्ध से आत्मा में विकार होता है,

और जिन के वियोग से आत्मा की शुद्ध अवस्था हो जाती है, उन्हें कर्म कहते हैं। इन कर्मों के द्रव्यकर्म व भाव-कर्म, ये दो भेद होते हैं, भावकर्म क्रोधादि को कहते हैं। द्रव्यकर्म पुद्गलद्रव्य की सूक्ष्म अवस्था विशेष का नाम है। जिस प्रकार विष व मदिरा आदि पदार्थों के सेवन करने से जीव को नशा हो जाता है, और जीव अपनी सब सुध बुध भूल जाता है, उसी प्रकार इन द्रव्यकर्मों के सम्बन्ध से यह जीव अपने आपे को भूला हुआ चतुर्गतिरूप संसार में मारा २ फिरता रहता है, कभी देव पर्याय से मर कर मनुष्य पर्याय में आता है, कभी मनुष्य पर्याय से मरकर नरक अथवा तिर्यञ्च पर्याय में जाता है। सुख की आशा से प्रत्येक कार्य करने पर भी इस जीव को दुःख ही दुःख की सामग्री मिलती है। कोई मित्र बनकर इस को ठग लेता है, कोई गुरु बनकर कुमार्ग में फंसा देता है, कोई भाई बनकर शत्रु का व्यवहार करता है, जिससे इसकी आत्मा "अग्नि से तप्त लोहे के गोले की तरह" निरन्तर क्रोध, मान आदि कषायाग्नि से तप्तायमान रहती है। और संसार में भरे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक कर्मों का अनादि काल से हमेशा प्रतिक्षण संबंध करती रहती है। और ये संबंधित कर्म इस जीव के असली गुणों को—मदिरा आदि की तरह—निरंतर बिगाड़ते रहते हैं, और आत्मा में क्रोध मान, माया, लोभ, अज्ञान,

आदिक भावकर्मों को उत्पन्न करते रहते हैं । क्रोधादि के द्वारा यह जीव नवीन द्रव्यकर्मोंका बन्ध करता रहता है, और पूर्व में बन्धे हुए पौद्गलिक द्रव्यकर्म, इस जीव में क्रोधादिक भावकर्मों को उत्पन्न करते रहते हैं। इस प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म, और भावकर्म से द्रव्यकर्म होते रहते हैं, जिनके द्वारा यह जीव अनादि काल से संसार में भटकता रहता है, और सुख प्राप्ति के अनेक उपाय करने पर भी शांति नहीं पाता। इस प्रकार भटकते २ जब कभी इस जीव को "अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-कांच, निंदन-थुति करन। अर्घाव-तारन-असिप्रहारन में सदा समता धरन॥ इत्यादि शिक्षाओं का पाठ पढ़ाने वाले सच्चे जैन-धर्म की प्राप्ति हो जाती है, उस समय इस जीव के धीरे २ क्रोधादि कषाय नष्ट होते जाते हैं, और उन के स्थान में गुप्ति[१], समिति[२], धर्म[३], अनुप्रेक्षा, परीषहजय (हरेक तरह की

---

१ मन वचन काय को वश में रखना ।

२ देखकर चलना, सब जीवों के हितकर वचन बोलना, शुद्ध भोजन करना, देखकर प्रत्येक वस्तु को रखना व उठाना, मल मूत्रादिक निर्जीव स्थान में त्यागना ।

३ क्षमा करना, मान न करना, मायाचार न करना, लोभ न करना, सत्य बोलना, जीवों की रक्षा करना व इन्द्रियों को वश में करना, तप करना, त्याग करना, संसार को निःसार समझना, अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना ।

आपत्ति के ऊपर विजय पाना) व चारित्र आदि गुण उत्पन्न होते जाते हैं।

तथा इन गुणों के द्वारा इस जीव के साथ नवीन कर्मों का बन्ध होना रुकता जाता है। इन नवीनकर्मों के बन्ध के रुकने को ही संवर कहते हैं। पूर्व में बांधे हुए कर्मों के आत्मा से पृथक होने को निर्जरा कहते हैं। इस निर्जरा के "सविपाक व अविपाक" ये दो भेद होते हैं। कर्मों के, आत्मा से—अपना सुख-दुःखरूपी फल देकर—पृथक होने को सविपाक निर्जरा कहते हैं। तप आदि के द्वारा, बिना फल दिये ही, आत्मा से कर्मों के पृथक होने को अविपाक निर्जरा कहते हैं। ये संवर और निर्जरा ही कर्मों के शत्रु होते हैं, तथा आत्मा में कभी हीन रूप में और कभी अधिक रूपमें पाये जाते हैं। परन्तु अर्हत परमेष्ठी में सब जीवों की अपेक्षा इन का परम उत्कर्ष होता है; क्योंकि अन्य जीवों में संवर व निर्जरा की तरतमता (हीनाधिकता) पाई जाती है। और यह नियम है कि जिस पदार्थ में तरतमता होती है, उसका कहीं न कहीं परमप्रकर्ष अवश्य होता है, जैसे कि दुःख का परम प्रकर्ष सातवें नरक में और सांसारिक सुखका परम प्रकर्ष सर्वार्थसिद्धि के देवों में पाया जाता है। इस प्रकार द्रव्यकर्म पुद्गलात्मक—

भावकर्म क्रोधादिरूप जीव का परिणाम और संवर व निर्जरा को कर्मोंका शत्रु—समझना चाहिये तथा यह भी समझ लेना चाहिये । कि—

तत्स्कन्धराशयः प्रोक्ता भूभृतोऽत्र समाधितः ।
जीवाद्विश्लेषणं भेदः सन्तानात्यन्तसंक्षयः॥११५॥

द्रव्यकर्मों के समूह को ही प्रारम्भ की तीसरी कारिका में भूभृत् की उपमा दी गई है । और अनादि-कालीन कर्मों की संतति के अत्यन्त नाश होने को जीव से कर्मों का भेद होना बताया गया है । और—

स्वात्मलाभस्ततो मोक्षःकृत्स्नकर्मक्षयान्मतः ।
निर्जरासंवराभ्यां नुः सर्वसद्वादिनामिह ॥११६॥

निर्जरा व संवर से प्राप्त हुए समस्त कर्मों के क्षय से, उत्पन्न हुई आत्म स्वरूप की असली हालत की प्राप्तिको सब अचार्यों ने मोक्ष बताया है । यद्यपि—

नास्तिकानां तु नैवास्ति प्रमाणं तन्निराकृतौ ।
प्रलापमात्रकं तेषां नावधेयं महात्मनां ॥११७॥

नास्तिक लोग मोक्ष का निराकरण करते हैं, परन्तु उनके द्वारा किये हुए मोक्ष के निराकरण में कोई प्रमाण नहीं मिलता । और केवल वचन मात्र से किये हुए निरा-करण को विद्वान लोग आदर नहीं दे सकते । इस लिये—

मार्गो मोक्षस्य वै सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकः।
विशेषेण प्रपत्तव्यो नान्यथा तद्विरोधतः ॥११८॥

मोक्ष का सच्चा उपाय सम्यग्दर्शन[1], सम्यग्ज्ञान[2] और सम्यक्चारित्र[3] को ही समझना चाहिये। और इसके विरुद्ध नैयायिक आदि के माने हुए केवल दर्शनमात्र, ज्ञानमात्र, व चारित्रमात्र को मोक्ष का कारण न समझना चाहिये; क्योंकि जैसे किसी रोगी को दवाई का केवल विश्वासमात्र, ज्ञानमात्र वा चारित्रमात्र रोग से मुक्त नहीं करा सकता, उस ही प्रकार संसार से मुक्त करने के लिये भी केवल दर्शन या ज्ञान अथवा चारित्र समर्थ नहीं हो सकते। किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष का साक्षात् उपाय है और--

प्रणेता मोक्षमार्गस्याबाध्यमानस्य सर्वथा।
सक्षाद्य एव स ज्ञेयो विश्वतत्त्वज्ञताश्रयः ॥११९॥

सर्वज्ञतादि गुणों के आश्रयभूत अर्हत देव ही निर्दोष-मोक्षमार्ग के साक्षात् उपदेशक होते हैं। तथा--

---

१ जीवअजीव आदि सात तत्त्वों का सच्चा श्रद्धान करना। २ जैसा पदार्थों का स्वरूप है उसको वैसा ही जानना। ३ जिन कार्यों के करने से कर्मों का बंध हो, उन कार्यों का त्याग करना।

वीतनिःशेषदोषोऽतः प्रवंद्योऽर्हन् गुणांबुधिः ।
तद्गुणप्राप्तये सद्भिरिति संक्षेपतोऽन्वयः ॥१२०॥

समस्त दोषों से रहित, सम्यग्दर्शनादि गुणों के समुद्र अर्हंतदेव ही इन गुणों की प्राप्ति के लिये सज्जनों से वंदनीक होते हैं। यही बात संक्षेप से इस ग्रन्थ में दिखाई गई है।

अब ग्रन्थकार अन्तिम मंगलाचरण करते हैं। कि—

मोहाक्रान्तान्न भवति गुरो मोक्षमार्गप्रणीति- ।
र्नर्ते तस्याः सकलकलुषध्वंसजा स्वात्मलब्धिः ।
तस्यै वंद्यः परगुरुरिह क्षीणमोहस्त्वमर्हन् ।
साक्षात्कुर्वन्नमलकमिवाशेषतत्त्वानि नाथ ॥१२१

हे नाथ यह मुझे भले प्रकार निश्चय है कि मोह जाल में फंसे हुए गुरुओं के द्वारा कदापि मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं हो सकता, इसलिये हे भगवन्, हथेली पर रक्खे हुए आंवले की तरह समस्त पदार्थों को साक्षात् जानने वाले, और मोह को नाश करने वाले आप जैसे परम-गुरु ही निज स्वरूप की प्राप्ति के लिये वंदनीक हो सकते हैं।

प्रशस्ति—

न्यक्षेणाप्तपरीक्षा प्रतिपक्षं क्षपयितुं क्षमा साक्षात् ।
प्रेक्षावतामभीक्ष्णं विमोक्षलक्ष्मीः क्षणाय संलक्ष्या १२२

यह आप्त परीक्षा नामक ग्रन्थ प्रतिपक्ष को समस्त रूप से दूर करने के लिये साक्षात् समर्थ है। और मोक्ष की लक्ष्मी के समान आनन्द की प्राप्ति के लिये विद्वान महाशयों के निरन्तर ग्रहण करने योग्य है।

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत सलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य ।
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत् ।
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं-
सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥ १२३ ॥

निर्मल २ ग्रन्थ-रत्नों को उत्पन्न करनेवाले, मोक्ष लक्ष्मी के कारणभूत तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्र में प्रवेश करते समय, बड़े २ ग्रन्थकारों ने सकल दोषों को दूर करने के लिये जो स्तोत्र किया है। मुझ विद्यानन्द नामक आचार्य ने भी संसार से पार करने के लिये तीर्थ के समान व संसारी जीवों को मोक्ष का

विस्तृत मार्ग बताने वाले और स्वामिसमन्तभद्र जैसे प्रभावशाली आचार्यों के द्वारा मीमांसा किये हुए "मोक्षमार्गस्य नेतारं" इत्यादि उसी स्तोत्र का इस ग्रन्थ में शक्ति भर प्रयत्न करके सत्यवाक्यार्थ[1] की सिद्धि के लिये जिस तिस प्रकार से वर्णन किया है।

अर्थात् जिस स्तोत्र की स्वामि समन्तभद्र जैसे सर्वज्ञायमान आचार्यों ने परीक्षा की है, उस स्तोत्र का कथन करने के लिये यद्यपि मैं (विद्यानन्द) असमर्थ हूं, तथापि वास्तव में सच्चा आप्त कौन हो सकता है। इस बात की सिद्धि करने को अत्यन्त आवश्यक समझ कर मैंने जिस तिस प्रकार से इस स्तोत्र[2] की व्याख्या की है।

इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ, मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा ।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं, कुविवादनिवृत्तये ॥ १२४ ॥

इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्र की आदि में किये हुए अर्हतदेव के स्तोत्र विषयक "आप्तपरीक्षा नामक ग्रन्थ" को झूठ वाद विवाद के दूर करने के लिये मैंने बनाया है ॥ शुभम् ॥

---

१ वास्तव में आप्त शब्द का क्या अर्थ हो सकता है, इस बात की सिद्धि के लिये।

२ मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥

पुस्तक मिलने के पते—

१–सुपरिण्टेण्डेण्ट, स्याद्वादमहाविद्यालय, काशी।

२–मेनेजर, भारतीभवन, बनारस।

३–बाबू विश्वम्भर सहाय जी,
जैन स्कूल, धीरज की पहाड़ी (दिल्ली)।